शिक्षा और आधुनिकता: कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए

अमन मदान

एकलव्य

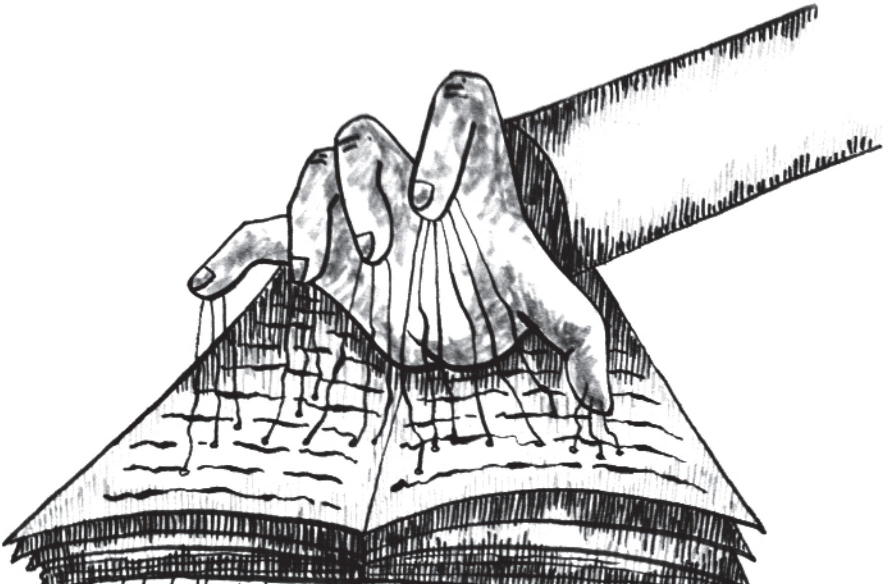

शिक्षा और आधुनिकता: कुछ समाजशास्त्रीय नज़रिए

SHIKSHA AUR ADHUNIKTA: KUCHH SAMAJSHASTRIYA NAZARIYE

लेखक: अमन मदान
चित्र: अबीरा बंदोपाध्याय
डिज़ाइन: इशिता देबनाथ बिश्वास
कवर डिज़ाइन: कनक शशि
सम्पादन: सी एन सुब्रह्मण्यम् और लोकेश मालती प्रकाश

CC BY NC ND अमन मदान और एकलव्य, दिसम्बर 2018

यह किताब क्रिएटिव कॉमंस के लाइसेंस Attribution-NonCommercial-NoDerivatives 4.0 International (CC BY-NC-ND 4.0) के तहत लाइसेंसयुक्त है। क्रिएटिव कॉमन्स लाइसेंस के तहत आप इस किताब की सामग्री और चित्रों का गैर-व्यावसायिक उद्देश्य से उपयोग करने के लिए स्वतंत्र हैं। ऐसा करते हुए आपको लेखक, चित्रकार और प्रकाशक का उल्लेख करना होगा। इसके अलावा किसी भी अन्य प्रकार के उपयोग के लिए, यथा, पाठ की रिमिक्सिंग, उसमें बदलाव या उसे आधार बना कर कुछ करने के लिए प्रकाशक और लेखक से सम्पर्क करना आवश्यक है।

प्रथम संस्करण, दिसंबर 2018 (2000 प्रतियाँ)
कागज़: 80 gsm नेचुरल शेड व 300 gsm आर्ट पेपर (कवर)
ISBN: 978-93-85236-79-2
मूल्य: ₹ 100.00

प्रकाशक:
एकलव्य
ई-10, शंकर नगर बीडीए कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (मप्र)
फोन: +91 755 255 0976, 267 1017
वेबसाइट: www.eklavya.in
ईमेल: books@eklavya.in

मुद्रक: आर के सिक्युप्रिंट्स प्रा लि, भोपाल, फोन: +91 755 268 7589

विषय सूची

भूमिका	04
शिक्षा का समाजशास्त्र: एक परिचय	09
जटिल समाजों में शिक्षा	27
शिक्षा, बाज़ार का विकास और सामाजिक टकराव	47
पूँजीवाद और शिक्षा: कुछ बुनियादी मुद्दे	65
औपचारिक संगठनों के माध्यम से शिक्षा	91
आधुनिकता, पहचान और शिक्षा	111

भूमिका

हम शिक्षा से उम्मीद करते हैं कि वह हमारे दौर के सवालों का जवाब दे। आज के दौर में, जब समुदायों के बीच नफरत भड़क रही है, तब हम शिक्षा की तरफ इस उम्मीद से देखते हैं कि यह लोगों के ज़ख्मी अहमों को राहत पहुँचाए और इन्सानियत से प्रेम करना सिखाए। ऐसे दौर में जब पुराने व्यवसाय या तो लुप्त हो रहे हैं या उनका आकर्षण फीका पड़ रहा है, हम चाहते हैं कि शिक्षा नए व्यवसायों का रास्ता साफ करे। जब किसानों के बच्चे शहरों में जा कर बसते हैं और पाते हैं कि पुराने तौर-तरीकों से अब काम नहीं चलता, तब हम शिक्षा से उम्मीद करते हैं कि वह उन्हें नए संस्कार और मूल्य सीखने में मदद करे। आज लोग कई गंभीर दुविधाओं से रूबरू हैं। चारों तरफ पैर पसारते इश्तेहार और उपभोक्तावाद हमें यह सन्देश देते हैं कि जीवन का मर्म नए मोबाइल फोन या रंग-बिरंगे कपड़ों में ही है। इन्हें पाने की चाहत में लोग नई-नई नौकरियाँ करते हैं। हालत यह है कि नई दोस्तियाँ भी उपभोग के इन सामानों की साझा पसन्द के इर्द-गिर्द ही बनती हैं। शिक्षा से अपेक्षा की जाती है कि इन नई प्रवृतियों पर भी कोई रुख तय करे।

यह छोटी-सी किताब आज के दौर के कुछ बुनियादी बदलावों की और शिक्षा के लिए इनके क्या मायने हैं इसकी पड़ताल करने की कोशिश करती है। तेज़ी से बदलते समाज में पुराने रीति-रिवाज़ों पर तीखे सवाल खड़े किए जा रहे हैं। कई बदलावों से नई समस्याएँ भी आ रही हैं। शायद यह किताब इन बदलावों को बेहतर समझने में मदद करेगी। इस किताब का मुख्य उद्देश्य है देश और दुनिया को प्रभावित कर रहे प्रमुख बदलावों में से कुछ को समझने में पाठकों की मदद करना। यहाँ इनकी चर्चा शिक्षा के सन्दर्भ में की गई है कि इन्होंने शिक्षा को कैसे प्रभावित किया है और भारत व पूरी दुनिया में शिक्षा के सामने ये कौन-सी नई चुनौतियाँ खड़ी कर रहे हैं। यहाँ तीन व्यापक प्रक्रियाओं की बात की गई है - (1) आज की दुनिया में जटिल समाजों का विकास, (2) पूँजीवाद और जिंसीकृत लेन-देन (Commodified exchange) का समाज और शिक्षा

पर असर, और (3) समाज और शिक्षा का बढ़ता तार्किकीकरण व नौकरशाहीकरण। कई समाज वैज्ञानिक इन तीनों को उस महत्वपूर्ण वैश्विक प्रवृति का आधार मानते हैं जिसे आधुनिकता का विकास और विस्तार कहा जाता है। असल में आज के कई वाद-विवादों का मुद्दा यही है कि ये प्रक्रियाएँ अच्छी हैं या बुरी। या फिर यह कि ये बुनियादी तौर पर तो फायदेमन्द हैं मगर इनको बहुत ही अलग तरीके से करने की ज़रूरत है। इन तीनों प्रक्रियाओं पर हम क्या पक्ष लेते हैं इसका गहरा असर इस बात पर पड़ता है कि शिक्षा के बारे में और उसमें क्या करना चाहिए, इस बारे में हम क्या राय रखते हैं। इसलिए इनकी बेहतर समझ का असर स्कूल और उच्च शिक्षा के हर पहलू से जुड़े हमारे कार्यों और रणनीतियों पर ही नहीं बल्कि समकालीन सामाजिक जीवन के बाकी पक्षों पर भी पड़ता है।

हमारे दौर के इन बुनियादी सवालों को सामने रखते हुए इस किताब में न तो इनका जबरन जवाब निकालने की कोशिश की गई है और न ही कोई खास वैचारिक रुख थोपने की। इसकी बजाय अलग-अलग लोगों ने इनके बारे में जो अलग-अलग राय ज़ाहिर की है उनको सामने रखने की कोशिश की गई है। बेशक इन सबको लेकर मेरे अपने मत भी हैं जो आज भी विकसित हो रहे हैं और बदल भी रहे हैं। मगर मैंने कोशिश की है कि मेरे निजी मत यहाँ हावी न हों। शायद पाठकों के लिए ज़्यादा उपयोगी यह होगा कि पके-पकाए जवाब परोसने की बजाय मुद्दों और उनकी अंतर्निहित प्रक्रियाओं को उनके सामने रखा जाए। बदलावों और उनकी दुविधाओं की समझ से सम्भव है कि पाठकों को सोच-समझकर अपना रुख खुद ही तय करने में और हमारे दौर के कुछ ज़रूरी मुद्दों के जवाब खुद ढूँढने में ज़्यादा मदद मिले। इसलिए मैंने हर मसले के सबसे बेहतर एक हल को सामने रखने पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया है। ऐसा पाठक जिसको यह आदत हो कि वह कैसे सोचे यह भी उसे बताया जाए उसको यह लेखन शैली असुविधाजनक लग सकती है। मगर मुझे लगता है कि दीर्घकाल में ऐसे पाठक के लिए ज़्यादा मददगार यही होगा कि वो अपना नज़रिया सोच-समझकर खुद ही तय करे।

यह इस शृंखला की पहली किताब है। वे पाठक जिन्होंने कभी समाजशास्त्र या सामाजिक मानवविज्ञान नहीं पढ़ा है उनको यह शृंखला इससे परिचित कराएगी कि ये विषय शिक्षा और आज के दौर में उसकी दुविधाओं को कैसे देखते हैं। और शायद यह उनको भी दिलचस्प लगेगी जिन्होंने इन विषयों को पढ़ा तो है मगर सिर्फ परीक्षा देने के लिए। असल में, इन विषयों में बहुत कुछ है जो रोज़मर्रा के जीवन में हमारा मार्गदर्शन भी कर सकता है और जीवन की तमाम पहेलियों को सुलझाने में हमारी मदद भी। इस शृंखला की शुरुआत में आधुनिकता और उसके मुख्य स्रोतों की और उनको लेकर जिस तरह का विवाद और विरोध हुआ है उसकी बात की गई है। मगर यह तो सिर्फ शुरुआत है, समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान में शिक्षाविदों के काम की और भी बहुत-सी चीज़ें हैं। इस किताब को पढ़कर अगर पाठक की इच्छा यह जानने की होती है कि तमाम तरह के समाज वैज्ञानिकों ने हमारे दौर में शिक्षा के बारे में क्या कहा है तो यह कोशिश बेकार नहीं जाएगी।

इन पन्नों को सरल और पढ़ने में आसान बनाये रखने की कोशिश की गयी है। मगर उनमें जो विचार हैं वे सभी आसान नहीं हैं। कई तो हमारी अपनी दुनिया को समझने के हमारे रोज़मर्रा के तरीकों पर तीखे सवाल उठाएँगे और उन पर पुनर्विचार करने का आग्रह करेंगे। बात को सरल रखने के लिये लेखन में बहुत कम नामों का ज़िक्र किया गया है। मगर हर पाठ के विषयों पर बहुत गंभीर और विस्तृत काम हुआ है। अच्छा होगा कि पाठक आगे जा कर इनके बारे में और विस्तार से भी पढ़े। यहां पर कई बड़े ही जटिल और उलझे हुये मामलों को सहज तरीके से बताने की कोशिश की गई है। शायद कहीं-कहीं वह कोशिश कामयाब भी हुई है। मगर इस में यह भी निहित है कि बहुत सी बातों को उनकी पूरी जटिलता में नहीं कहा जा सका है। अगर इस किताब को कोई विशेषज्ञ पढ़ेगा तो उसे ज़रूर यह लगेगा कि बहुत सारी महत्वपूर्ण बातों का तो जिक्र ही नहीं आया। मगर इस किताब का उद्देश्य लोगों को शिक्षा के सामाजशास्त्र और मानवशास्त्र से परिचित कराना है, उसका संपूर्ण अध्ययन पेश करना नहीं। अगर इसे पढ़ कर उनको इन विषयों

के बारे में और पढ़ने की जिज्ञासा होती है तो इस किताब का उद्देश्य पूरा हो जाएगा।

इस किताब में लिखी बातों पर मैं कई सालों से चर्चा करता आ रहा हूं, दिगंतर में आयोजित कार्यशालाओं में और टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेस, होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन, आईआईटी कानपुर और अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में अपने छात्रों से। मैं इन सबका आभारी हूँ क्योंकि उन्होंने मुझसे लगातार कठिन सवाल पूछे और मुझे दुनिया को उनके नज़रिये से देखने में मदद की। सबसे पहले एन वेणु ने मुझे ऐसी किताब पर गंभीरता से काम करने के लिए प्रेरित किया जिसे वे पाठक भी पढ़ सकें जो समाजशास्त्र से अपरिचित हों। इस किताब की बहुत सारी सामग्री लेखों की उस श्रृंखला में आ चुकी है जो विश्वंभर व्यास जी ने मुझसे दिगंतर द्वारा प्रकाशित पत्रिका *शिक्षा विमर्श* के लिये लिखने को कहा था। विश्वंभर जी के निमंत्रण के दबाव में मैंने उन व्याख्यानों को लिखने की कोशिश की जो कई सालों तक मैं शिक्षा में काम करने वाले एक्टिविस्टों और छात्र-छात्राओं को देता रहा था। इसके लिये मैं उनका और दिगंतर के दूसरे साथियों का आभारी हूँ। एकलव्य के प्रकाशन विभाग की कई किताबों को देख कर मुझे प्रोत्साहन मिला कि मैं उन लेखों को ऐसी किताब में तब्दील करूँ जो कम से कम कीमत में देश के दूरदराज इलाकों तक पहुंच जाती हैं। एकलव्य के संपादकों और समीक्षकों ने लेखों पर फिर से काम करके उन्हें ज्यादा संपूर्ण और सरल बनाने में मेरी बहुत मदद की। इसके लिये मैं विशेष रूप से लोकेश मालती प्रकाश और सी एन सुब्रह्मण्यम का बहुत आभारी हूँ। इशिता देबनाथ बिश्वास ने इसे एक सुंदर रूप दिया है और अबीरा बंदोपाध्याय के भावुक चित्रों ने इसमें लिखी बातों में जान फूँक दी। चित्रों पर दिये सुझावों के लिए मैं अलेक्स एम जॉर्ज का भी आभारी हूँ।

अमन
बंगलुरु 18 नवंबर 2018

1

शिक्षा का समाजशास्त्र: एक परिचय

> सूरज अभी पूरी तरह नहीं निकला था और खूब सर्दी पड़ रही थी। मैं कुछ किसानों के साथ खाट पर बैठा था। सभी खेस में लिपटे हुए थे और गरम चाय की चुस्की ले रहे थे। मैं उनसे कहने की कोशिश कर रहा था कि शिक्षा का उनके जीवन में क्या महत्व है मैं यह समझना चाहता हूँ । "पढ़ाई!" एक किसान ने ज़ोर देकर कहा, "वह तो बेकार है, हमारे किस काम की है पढ़ाई।" अपने पीछे खड़े एक नौजवान की तरफ इशारा करते हुए उसने आगे कहा, "यह देखो मेरा बेटा। दसवीं पढ़कर यह तो बेकार हो गया। न तो इसे शहर में कोई नौकरी मिली और अब न ही यह खेती करता है। ऐसी पढ़ाई से हमको क्या मतलब?" उसकी बात से नौजवान झेंप गया।

भारत जैसे विकासशील देशों में परिवर्तन बड़ी तेज़ी से हो रहे हैं। ज़िन्दगी के नित नए रूप उभर रहे हैं और चाहे हमें ये पसन्द हो या नहीं, इनको समझना तो ज़रूरी है। हर मोड़ पर हम नए और पेचीदा सवालों से टकराते हैं। हम खुद से पूछते हैं कि क्या पुराने तौर-तरीके अब भी सही हैं? उनमें से क्या रखें और क्या छोड़ें? हमारे पूर्वजों के जो संस्कार थे, स्कूल और कॉलेज की शिक्षा हमें वे नहीं सिखाती। उलटा, वह कई बार हमें ऐसे कैरियर और मूल्यों की ओर ले जाती है, जिसकी कल्पना हमारे परिवार में किसी ने कभी नहीं की होगी।

शिक्षा और उसके द्वारा सिखाए गए मूल्यों के बारे में कई तरह की शंकाएँ व्यक्त की जाती हैं। ऐसा लगता है कि समाज में एक व्यापक बाज़ारीकरण हो रहा है जो परिवार और समाज, दोनों को जोड़ने वाले बन्धनों को कमज़ोर करता जा रहा है। ज़्यादा पैसे वाली नौकरी अक्सर घर परिवार से दूर ले जाती है। एक आम मान्यता बन रही है कि नई शिक्षित पीढ़ी बदतमीज़ और मुँहफट बनती जा रही है। अपने मोबाइल पर ज़्यादा और परिवार के साथ कम समय बिताती है। उनसे कहा जाता है कि व्यवसायिक और पेशेवर शिक्षा की तरफ जाना चाहिए क्योंकि वहीं ज़्यादा नौकरियाँ हैं। लेकिन नौकरियाँ हैं कहाँ? पेशेवर नौकरियाँ केवल कुछ को ही मिलती हैं। खेती में कुछ खास भविष्य दिखता नहीं और शिक्षा उसका विकल्प ढूँढने का तरीका मानी जाती है। उधर दर्शनशास्त्र और कला, जिनसे संवेदनशीलता और सोचने के तरीके आते हैं, उनमें कोई दाखिला ही नहीं ले रहा। आज के दौर में शिक्षा का सवाल विकासशील देशों की बहुत सारी दुविधाओं के साथ जुड़ा हुआ है। महिलाएँ कह रही हैं कि वे पढ़ना चाहती हैं और सिर्फ माँ या पत्नी बनकर ही नहीं रहना चाहतीं। ऐतिहासिक रूप से शिक्षा से दूर रखे गए कई समुदाय अब शिक्षा की माँग कर रहे हैं। इस तरह, हमारे समय के और हमारे देश के बहुत सारे सवाल शिक्षा के साथ जुड़ते हैं।

समाजशास्त्रीय नज़रिए का महत्व

शिक्षा को ज़्यादातर मनोवैज्ञानिक नज़रिए से देखा जाता रहा है या एक ऐसी गतिविधि की तरह जो सिर्फ कक्षा व परिवार तक ही सीमित हो। शिक्षा में सुधार लाने की कोशिशों का ध्यान पढ़ाने की ज़्यादा बेहतर विधियों, ज़्यादा रोचक पाठ्यपुस्तकों के निर्माण जैसी बातों पर रहता है। मेरी यहाँ पर यह प्रस्तावना है कि इन सब पर समाज के स्वरूप का गहरा असर पड़ता है और इस बात का भी कि समाज में किस तरह के परिवर्तन आ रहे हैं। उदाहरण के लिए, एक छोटे पैमाने के गतिहीन समाज में शिक्षा से कई ऐसी अपेक्षाएँ होंगी जो एक बड़े पैमाने के गतिशील समाज की अपेक्षाओं से अलग होंगी। जैसा कि

स्कूली शिक्षा का सामाजिक संदर्भ

मानवशास्त्री मार्गरेट मीड ने कहा था, एक गतिहीन समाज में छोटों को वही सीखने की ज़रूरत होती है जो बड़ों को पहले से पता होता है। मगर एक गतिशील समाज में बड़ों को छोटों से सीखने में फायदा है। शिक्षा के उद्देश्य और अर्थ का समाज के स्वरूप से गहरा रिश्ता होता है और उस स्वरूप के साथ-साथ ये बदल भी सकते हैं।

समाजशास्त्रीय नज़रिया व्यक्तिगत या जीववैज्ञानिक नज़रिए से अलग है। शायद यही इसे महत्वपूर्ण भी बनाता है। मिसाल के लिए, अगर बोर्ड परीक्षा में टॉप करने वाली किसी छात्रा की बात करें तो सम्भव है कि उस छात्रा समेत बहुत सारे लोगों का यह मानना हो कि इसके पीछे उसकी मेहनत और लगन है, जो उसके व्यक्तिगत गुण हैं। सम्भव है कि वह छात्रा यह भी कहे कि टॉप करने के पीछे उसका अपने विषयों के प्रति विशेष रुझान होना भी है। लेकिन समाजशास्त्री इसके साथ-साथ कुछ ऐसी बातें भी जोड़ेगें जो शायद उसे या दूसरे लोगों को न सूझी हों। मसलन, समाजशास्त्री यह कह सकते है कि वह छात्रा एक ऐसे परिवार से और समाज के एक ऐसे तबके से है जिसमें

शिक्षा की बड़ी अहमियत है। ऐसे परिवार अब सिर्फ लड़कों को ही नहीं बल्कि लड़कियों की शिक्षा को भी बहुत महत्व देते हैं। यह इस तरह के परिवार के कारण ही था कि वह ऐसे स्कूल जा सकी जहाँ अच्छी पढ़ाई होती थी। उसके परिवार ने उसको घरेलू कामों से दूर रखा होगा ताकि वह अपना सारा ध्यान पढ़ाई पर ही लगाए। उसका परिवार ऐसा क्यों था और अन्य परिवारों की तरह क्यों नहीं? समाजशास्त्री इसे कई समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं से जोड़ते हैं, जैसे कि, भारत के पिछले 50 साल के विकास के दौरान उसका परिवार कहाँ रहा था? उनका व्यवसाय क्या था? उनकी जाति और धार्मिक समूह की संस्कृति क्या

सामाजिक पृष्ठभूमि व शैक्षणिक उपलब्धि

थी? उसके आसपास घरेलू जीवन से बाहर निकलने वाली महिलाओं के किस तरह के उदाहरण थे? उसके स्कूल और समुदाय में महिला होने के अर्थ पर किस तरह की बातचीत होती थी? इत्यादि।

बेशक हमारी बोर्ड टॉपर की उपलब्धियों का एक जैविक आधार भी है, क्योंकि वह ज्ञानात्मक रूप से सक्षम है या सरल शब्दों में कहें तो उसका दिमाग समुचित रूप से विकसित है यानी वह कुपोषित या दिमागी तौर पर अक्षम नहीं है। मगर उसकी जैविक क्षमताओं का विकास हो पाता है कि नहीं, यह काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस तरह के सामाजिक परिवेश में पली-बढ़ी है और उसने खुद कितनी मेहनत और पहलकदमी की है। उसके व्यक्तिगत और जैविक पहलुओं से हटकर उसके जीवन के समाजशास्त्रीय पक्ष को भी समझना आवश्यक है।

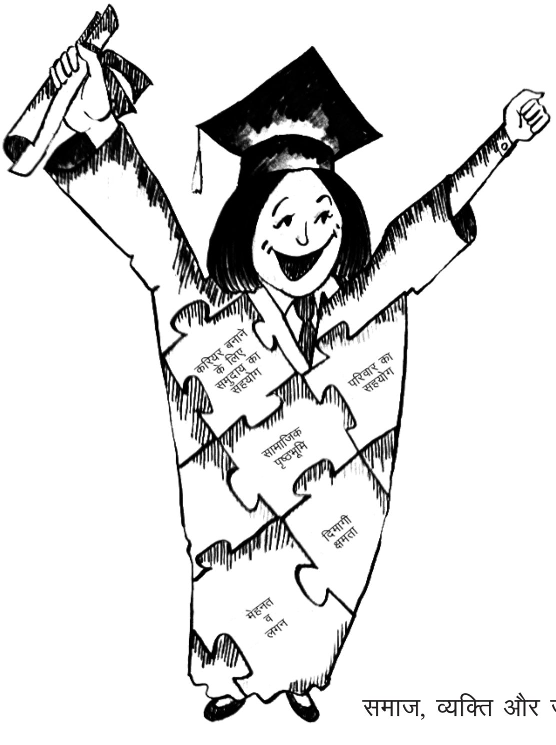

समाज, व्यक्ति और जीव विज्ञान का संबंध

समाजशास्त्रियों के अनुसार, यह मान्यता कि सीखना और शैक्षणिक उपलब्धि महज़ एक व्यक्तिगत मामला है, अधूरी समझ का परिचायक है। इसमें समाज का भी बड़ा हस्तक्षेप होता है। एक उदाहरण लेते हैं, सन 2009-10 में, कॉलेज जाने वाली उम्र के सिर्फ 17 प्रतिशत युवाओं का नाम ही किसी भी तरह के उच्च शिक्षा संस्थान में दर्ज था। यानी, पाँच में से एक भारतीय युवा को भी उच्च शिक्षा उपलब्ध नहीं थी। ज़्यादातर मामलों में युवा उच्च शिक्षा से बाहर इसलिए नहीं थे कि उन्होंने कॉलेज या पॉलीटेक्निक में पढ़ाई नहीं करने का कोई फैसला किया हो या फिर इसलिए कि उनकी बुद्धि उस तरह की पढ़ाई के लिए जैविक रूप से सक्षम न हो। असल में इसकी वजह मुख्य रूप से व्यक्तिगत या जैविक है ही नहीं बल्कि यह उन युवाओं की परिस्थितियों से जुड़ी हुई है जिनमें वे अपना जीवन जी रहे हैं। या तो उनका परिवार उनकी स्कूल की पढ़ाई का बोझ नहीं उठा सकता या उनको यह उम्मीद नहीं होती कि कॉलेज जाने के बाद भी कोई अच्छी नौकरी मिल सकेगी या फिर लड़कियों के मामले में यह मान्यता कि उनको ज़्यादा पढ़ाने से उनकी शादी करने में दिक्कत आएगी इत्यादि। यह सिर्फ व्यक्तिगत कारण और निर्णय नहीं हैं। इन पर बड़ी गहरी छाप इस बात की है कि देश के अलग-अलग हिस्सों में विकास कैसे हुआ और विभिन्न समुदायों और वर्गों का इतिहास क्या रहा है। जो बच्चा किसी अँग्रेज़ी बोलने वाले परिवार और बड़े शहर में पैदा होता है, जहाँ कई कम्पनियाँ और सरकारी महकमे हैं, वह तो निश्चित ही कॉलेज जाएगा। दूसरी तरफ एक खेतिहर मज़दूर के बच्चे को किसी छोटे से कॉलेज में भी जाने के लिए बड़ी मेहनत और असाधारण स्तर की लगन दिखानी पड़ेगी।

समाजशास्त्रीय नज़रिए के इस्तेमाल से हमें कई सवालों के जवाब ढूँढने में मदद मिलती है। मुमकिन है कि पूरा जवाब न मिले, मगर मदद ज़रूर मिलती है। कुछ सवाल, मसलन, समाज में शिक्षा का बुनियादी उद्‌देश्य क्या होना चाहिए, ऐसे हैं जिनका जवाब सिर्फ समाजशास्त्र में नहीं मिल सकता। इनके लिए दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे

अन्य स्रोतों की ज़रूरत भी पड़ती है। मगर जिन महत्वपूर्ण सवालों में समाजशास्त्र काम आ सकता है, वे कुछ इस प्रकार हैं:

- स्कूल में कुछ बच्चे पीछे क्यों रह जाते हैं? हर कक्षा में कुछ बच्चे होते हैं जो जल्दी सीखते हैं और कुछ जो धीरे सीखते हैं। यह आमतौर पर सुनने को मिलता है कि जल्दी सीखने वाले बच्चे दूसरों से ज़्यादा बुद्धिमान होते हैं। समाजशास्त्र इनको कुछ अलग ढंग से देखता है। यह देखा गया है कि जब धीरे सीखने वाले बच्चे को ऐसे स्कूल में डाला जाता है जहाँ उसे ज़्यादा देखरेख और मदद मिलती है तो उसकी सीखने की गति बढ़ जाती है। कोई बच्चा स्कूल में कैसा प्रदर्शन करता है, इसका सम्बन्ध इससे भी होता है कि उसके स्कूल की परिस्थितियाँ कैसी हैं, उसका सामाजिक परिवेश कैसा है और उसके माता-पिता किन सामाजिक समूहों का हिस्सा हैं । इन्हें समझे बिना बच्चे की सीखने की प्रक्रियाओं को और उनकी मदद किस तरह की जा सकती है यह समझना कठिन है।
- शिक्षा में साधन कैसे और किसे मिलते हैं? आज के भारत में अधिकांश बच्चे ऐसे स्कूलों में पढ़ते हैं जिनमें या तो पढ़ाई होती ही नहीं या अच्छे तरीके से नहीं होती। मगर हम यह भी देखते हैं कि हमसे उलट विश्व के कई देश अपने अधिकांश बच्चों को ठीक-ठाक शिक्षा उपलब्ध कराने में कामयाब हैं। यह सफलता महज़ एक अच्छे शिक्षक के मिल जाने के इत्तफाक से सम्भव हुई हो ऐसा नहीं है बल्कि इसके पीछे कई सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं जिन्हें समझना फायदेमन्द है, जैसे कि राजनैतिक आन्दोलन, आर्थिक परिवर्तन, सांस्कृतिक माँगें इत्यादि।
- अलग-अलग समाज किस तरह की शिक्षा चाहते हैं? आजकल भारत में बहुत सारे छात्रों से यह कहा जाता है कि सिर्फ इंजीनियरिंग और चिकित्सा ही कैरियर के अच्छे विकल्प हैं। लेकिन अगर किसी समाज में दार्शनिक और कवि बनने बन्द हो जाते हैं, तो उस समाज में कई तरह की समस्याएँ पैदा हो जाएँगी। दार्शनिक और कवि बनने के लिए भी काफी कुछ सीखना पड़ता है। वह कौन

सीखेगा और कौन सिखाएगा? इसके अलावा समाज में और भी कई तरह की ज़रूरतें होती हैं। जैसे कि, एक समाज जिसमें कई तरह के वर्ग और समूह हैं और जिन्हें एक साथ रहना है उन्हें एक ऐसी सांस्कृतिक शिक्षा की ज़रूरत होगी जो उन्हें आपस में सहयोग करने और मित्रता से रहने में मदद करें। ज़्यादातर मानव इतिहास में शिक्षा का आशय तकनीकी शिक्षा से कहीं ज़्यादा सांस्कृतिक शिक्षा रहा है। किन्हीं खास सामाजिक व ऐतिहासिक परिस्थितियों में सांस्कृतिक और तकनीकी शिक्षा के बीच का यह समीकरण उल्टा हो गया और इस घटना के महत्व पर आज भी बहस जारी है। शिक्षा के उद्देश्य स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं हैं बल्कि इनका सम्बन्ध इतिहास और समाज की संरचना से है। शिक्षा के उद्देश्य और नीति तय करने के लिए समाज विशेष को और उसमें किस तरह की खींचतान चलती है, उसे समझना आवश्यक है।

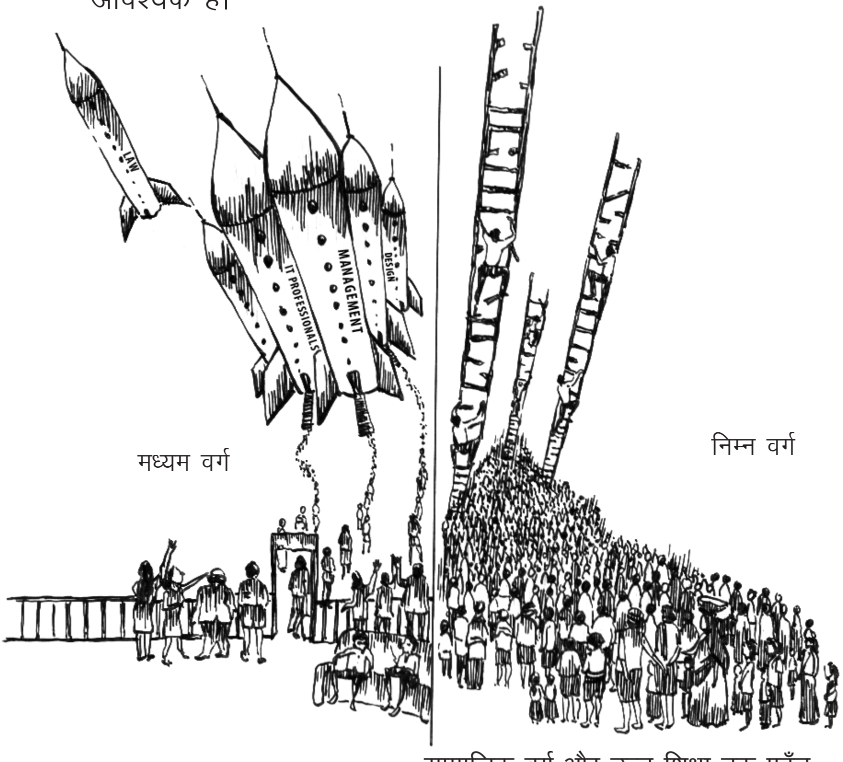

सामाजिक वर्ग और उच्च शिक्षा तक पहुँच

समाजशास्त्र की परिभाषा

परिभाषाएँ कई बार ज़्यादा मददगार नहीं होतीं। वे इतनी ज़्यादा तंग और संक्षिप्त होती हैं कि समझ में ही नहीं आतीं। उदाहरण के लिए, अगर हम शोले फिल्म के बारे में सिर्फ इतना कहें कि वह एक डाकू को पकड़ने की कहानी है तो इस से बात नहीं बनेगी। जिन्होंने यह फिल्म देखी है, वे तो इस परिभाषा से कतई सन्तुष्ट नहीं होंगे और जिन्होंने नहीं देखी उनको भी इससे कुछ खास समझ नहीं आएगा। फिर भी, शुरुआत में ही थोड़ा बताने की कोशिश करना कि समाजशास्त्र क्या है, शायद अच्छा है। हालाँकि असली शोले को देखने के मज़े की तरह जैसे-जैसे बात आगे बढ़ेगी, जैसे-जैसे आप पन्ने पलटेंगे, समाजशास्त्र के और रोचक पहलू सामने आते जाएँगे।

समाजशास्त्रीय नज़रिया मूल रूप से यह है कि लोगों को उनके निजी व्यक्तित्व से और उनके जैविक शरीर की जगह उनके मानव पर्यावरण द्वारा समझा जाए। अगर हम यह जानना चाहते हैं कि शिक्षा में क्या होता है, तो हमें यह पूछना होगा कि उस पर विभिन्न तरह के परिवारों का, आर्थिक परिस्थितियों का, समुदायों के आपसी तनावों, राजनैतिक पहचानों और लोगों को कैसे प्रेरित किया जाए इससे जुड़ी मान्यताओं इत्यादि का क्या असर होता है। समाजशास्त्र का यह मानना है कि लोग एकान्त में नहीं रहते, बल्कि खास तरह के सामाजिक ढाँचे में रहते हैं, जो उनके जीवन के हर पहलू को प्रभावित करता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि हम समाज के हाथ की कठपुतलियाँ हैं, जो बस उसी के इशारे पर नाचती रहती हैं। हम सोच सकते हैं, विचार कर सकते हैं और फिर चयन भी कर सकते हैं। हम किसी चुनौती का जवाब धैर्य और करुणा से देते हैं या उत्तेजना व आक्रोश से भर उठते हैं, यह काफी हद तक हमारे हाथ में है। यह भी महत्वपूर्ण होता है कि हम अपने-आपको किस तरह से ढालते हैं। हम अपने-आपको संगठित भी कर सकते हैं और उस संगठन के ज़रिए अपने ऊपर पड़ने वाले सामाजिक दबावों को तोड़ भी सकते हैं। मगर हम क्या करने का चुनाव करते हैं, उस पर काफी बड़ा असर इस बात से पड़ता है

कि हमने अपने परिवेश में किस तरह के उदाहरण देखें हैं, जो इससे प्रभावित होता है कि हमारे सामाजिक परिवेश में हमारी क्या जगह है। अगर मैं ऐसे स्कूल में पढ़ता हूँ जिसकी कक्षा में बहुत ज़्यादा बच्चे भरे हुए हैं और जिसके शिक्षक को कभी अच्छे शिक्षण प्रशिक्षण का मौका न मिला हो, तो उस कक्षा में अगर मैं गणित को लेकर विशेष उत्साह दिखाऊँ भी तो बहुत मदद नहीं मिलेगी। समाजशास्त्र इस तरह के सामाजिक ढाँचों और व्यक्तियों के बीच के जटिल लेन-देन के बारे में है।

वैसे तो लोग शायद हमेशा से ही समाज और उसके महत्व को समझते आए हैं। जब अर्थशास्त्र में यह कहा गया कि किसी राज्य के स्थिर रहने के लिए उसकी प्रजा की खुशहाली ज़रूरी है, तो यह भी सामाजिक ढाँचे की एक समझ पर आधारित था। मगर समाजशास्त्रीय नज़रिया इसी तरह की शुरुआती समझ से काफी ज़्यादा विकसित और विस्तृत है। वह यह जानने के लिए लोगों का अध्ययन करेगा कि उनके लिए खुशहाली का क्या मतलब है? और वे सरकार को पलटने से पहले कितने दुखों को बर्दाश्त कर सकते हैं। वह यह भी पूछेगा कि क्या जनता को सुखी रखने के लिए राजे-रजवाड़े की व्यवस्था ही सबसे अच्छा तरीका है या इसके दूसरे तरीके भी हो सकते हैं? वह अन्य तरह के राजनैतिक ढाँचों को भी रेखांकित करेगा और उनके गुणों-अवगुणों का विश्लेषण करेगा। समाजशास्त्र अलग-अलग तरह के समाजों का एक व्यवस्थित अध्ययन करता है, वह सिर्फ हमारे कॉमन सेंस या सामान्य बोध के भरोसे नहीं रहता।

समाजशास्त्र और कॉमन सेंस

समाजशास्त्र की लोकप्रियता का एक कारण शायद यह है कि हमारी ज़िन्दगियाँ पहले से कहीं ज़्यादा पेचीदा हो गई हैं। समाजशास्त्र आज के टेढ़े-मेंढ़े हालात को समझने में मदद करता है। मेरा अपना तजुर्बा तो मेरे पड़ोस, मेरे दोस्तों और परिवार वालों से आता है। यह कुछ सौ लोगों से ज़्यादा नहीं होंगे। मगर आज बहुत सारी ऐसी बातें मेरी ज़िन्दगी को प्रभावित करती हैं जो मेरे और मेरे दायरे के तजुर्बे से

बिलकुल ही बाहर हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका में घरेलू कर्ज़ देने वाली कुछ कम्पनियों और बैंकों के लालच और सरकारी लापरवाही के चलते 2008 में अमरीकी वित्तीय व्यवस्था ढेर हो गई। इसके झटके पूरी दुनिया में महसूस हुए और बैंगलुरू में मेरे दोस्त सलीम ने खुद को बेरोज़गार पाया। उसे काफी मुश्किलों से गुज़रना पड़ा और वह तो उसकी हिम्मत थी कि वह फिर भी मुस्कराता रहा। मगर इस ध्वंस में उसका कसूर तो था ही नहीं। कुछ बड़ी दूर-दराज़ की प्रक्रियाओं ने उसके आशियाने को उजाड़ दिया। अगर लोग इस पूरी प्रक्रिया को अपने छोटे-से दायरे में रखकर देखेंगे तो लगेगा कि सलीम में ही कुछ कमी थी जिसके कारण उसकी नौकरी चली गई। लेकिन अगर हम चीज़ों को एक व्यापक पैमाने पर रख कर देखेंगे तो स्पष्ट हो जाएगा कि दरअसल यह एक बहुत बड़ा नाटक है जिसमें सलीम, उसकी नौकरी का चले जाना और उसकी बेरोज़गारी महज़ कुछ छोटी-छोटी कड़ियाँ हैं। समाजशास्त्र की कोशिश रहती है कि वह नाटक के किरदारों को समूचे नाटक के परिवेश में रखकर देखे।

उदाहरण के लिए, जब हम ग्रामीण इलाके से आए छात्रों को शहरी स्कूलों में दिक्कतों का सामना करते देखते हैं तो समाजशास्त्रीय नज़रिया हमारे सामने एक अलग तस्वीर रखता है। जिन स्कूलों में यह बच्चे आते हैं उनके शिक्षकों को लगता है कि वे या तो विषयों को समझते नहीं हैं या वे उनमें रुचि नहीं रखते। समाजशास्त्रियों का कहना है कि हमारे स्कूलों में पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, इम्तिहान, शिक्षक सभी का रुझान शहरी सफेदपोश नौकरी की तरफ है। नतीजा यह होता है कि सफेदपोश नौकरी करने वालों के बच्चे स्कूल में सबसे ज़्यादा घुले-मिले होते हैं। वहीं, अलग सामाजिक परिवेशों के बच्चों को स्कूल एक पराई और अजीब जगह महसूस होती है। जब हम इस पूरी परिस्थिति को समझने लगते हैं तब ग्रामीण परिवेश से आने वाले बच्चों की समस्याओं को नए तरीके से देखना शुरू करते हैं। और तभी हम यह समझ पाते हैं कि ग्रामीण बच्चों को सामाजिक व्यवस्था की असमानताओं और समस्याओं के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

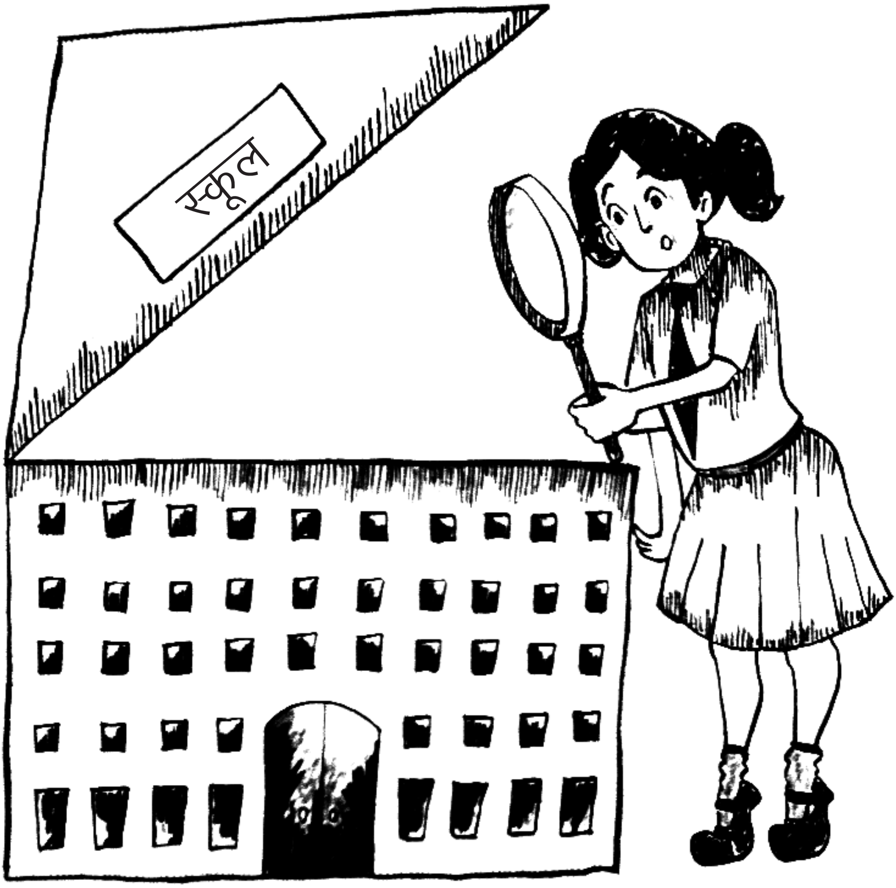

समाजशास्त्र सबूतों की पड़ताल करता है

बहुत सारी बातों पर, हमारी आम तरीके से बनी समझ पर समाजशास्त्रीय शोध हमसे पुनर्विचार करवाता है। यह इसलिए क्योंकि हमारा कॉमन सेंस सुनी-सुनाई बातों से और मीडिया जैसे स्रोतों से बनता है। समाजशास्त्र इससे हटकर विज्ञान के तरीकों का इस्तेमाल करके और व्यवस्थित अध्ययन करके अपनी समझ बनाता है। समाजशास्त्र जिन पद्धतियों का इस्तेमाल करता है उनके बारे में सचेत रहता है और प्रमाण पर ज़ोर देता है।

उदाहरण के लिए, अक्सर कहा जाता है कि भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों या आईआईटी में अनुसूचित जाति/जनजाति (एससी /एसटी) समूह के छात्र-छात्राओं के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता। एस श्रीनिवास राव यह जानना चाहते थे कि क्या यह वाकई सच है और यदि हाँ, तो किस तरह से। उन्होंने 2005-06 में एक आईआईटी का अध्ययन किया, जिसमें उन्होंने छात्र-छात्राओं, अध्यापकों और स्टाफ के लोगों के साक्षात्कार किए (राव, 2013)। इन साक्षात्कारों और निजी अवलोकनों से राव ने कुछ प्रक्रियाओं को रेखांकित किया जिनके कारण एससी/एसटी छात्र-छात्राओं पर कुछ “लेबल” लगाए जा रहे थे। इनके कारण कुछ व्यक्तियों के साथ भेदभाव किया जा रहा था। एक प्रक्रिया यह थी कि जो एससी/एसटी छात्र-छात्राएँ आईआईटी प्रवेश परीक्षा को उत्तीर्ण नहीं कर पाते उनमें से कुछ को तैयारी कोर्स (प्रीपेरेटरी कोर्स या पीसी) में एक साल के लिए दाखिला दिया जाता था। यह तैयारी कोर्स उपहास का विषय बन गया था जिसका प्रभाव एससी/एसटी छात्र-छात्राओं की खुद के प्रति उनकी सोच पर और दूसरे लोगों से उनके सम्बन्धों पर पड़ रहा था। जैसे कि एक छात्र ने राव को बताया -

“हमारी भौतिक विज्ञान की क्लास थी और हम अध्यापक से पहली बार मिल रहे थे। लेक्चर के बाद अध्यापक ने कहा कि अगर कुछ सवाल हों तो पूछ लें और मैंने एक सवाल उनके सामने रखा। अध्यापक ने उसका सीधा जवाब न देते हुए, उलटा मुझसे सवाल किया, ’तुम यह भी नहीं जानते? क्या तुम पीसी के छात्र हो?’ मुझे बहुत शर्म आई

और बेइज़्ज़ती महसूस हुई। यह सोचिए कि यह मेरी पहली क्लास थी और मेरी अपने सहपाठियों के सामने क्या छवि बनी होगी। उसके बाद मैं उसकी क्लास से और यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान से ही नफरत करने लगा। अब मैं इंजीनियर नहीं बनना चाहता। मैं किसी और कोर्स में जाऊँगा।" (राव 2013:210)

राव ने और भी कई बातों की खोज की और आईआईटी प्रणाली पर उनके कई विचार हैं। मगर अभी के लिए हम उनके शोध के तरीके पर ही ध्यान देंगे। छात्रों पर लेबल लगाने से उन पर क्या असर पड़ता है यह बारीकी से समझने के लिए उन्होंने कई सैद्धान्तिक कृतियों का अध्ययन किया। लेकिन उन्होंने सिर्फ किताबों या अपने पहले के अनुभव से निष्कर्ष नहीं निकाले, बल्कि व्यवस्थित तरीके से एक वास्तविक आईआईटी के विद्यार्थियों और अध्यापकों का अध्ययन किया। वास्तविकता का अध्ययन और अवधारणाओं और सिद्धान्तों का गठन, यह समाजशास्त्र की विशेषताएँ हैं। यह एक वैज्ञानिक परम्परा से प्रभावित है जो वास्तविकता पर ज़ोर देती है और कई तरीकों से यह परखती है कि जो हम सोच रहे हैं, यानी जो हमारे सिद्धान्त हैं, वे वास्तविकता से मेल खाते हैं या नहीं। लेकिन समाजशास्त्र उस तरह का विज्ञान नहीं है जैसा भौतिक विज्ञान होता है। उसमें न्यूटन की तरह बनाए हुए नियम नहीं हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकें कि फेंका हुआ एक पत्थर कहाँ जाकर गिरेगा। इन्सानों और उनके सामाजिक रिश्तों को समझना फेंके हुए पत्थरों को समझने से काफी ज़्यादा मुश्किल काम है। शायद इसलिए भी क्योंकि हम सोच सकते हैं और अपनी दिशा बदल सकते हैं।

सामाजीकरण: हमारे स्वयं का बनना

समाजशास्त्र में एक बुनियादी बात यह है कि हम सब कोरा कागज़ लेकर पैदा होते हैं, जिसे हम अपने अनुभवों द्वारा धीरे-धीरे भरते हैं। हमारा व्यक्तित्व, मान्यताएँ और उपलब्धियाँ सभी हमारे आसपास के लोगों से मिलते-जुलते हुए, पारस्परिक तरीके से बनते हैं। जन्म के बाद लम्बे समय तक इन्सानों के बच्चे इतने असहाय होते हैं कि अगर

सामाजीकरण और उसके अलग-अलग स्वरूप

उनके आसपास दूसरे लोग यानी समाज न हो तो वे कुछ दिन भी जीवित न रह पाएँ। मोगली की कहानी, जिसे भेड़ियों ने पाल-पोस कर बड़ा किया था, महज़ एक कहानी है। हमें ऐसे इक्का-दुक्का व्यक्ति मिले हैं जो जानवरों के बीच लम्बे समय तक जीवित रह सकें। लेकिन उनमें इंसानों में पाए जाने वाले अधिकांश गुण नहीं मिले, जैसे कि अच्छे से बात कर पाना, औज़ार बनाना, इत्यादि। हमारा इन्सान बनना समाज में ही सम्भव है। लोगों के बीच जो अन्तर होते हैं वे सभी तो नहीं मगर उनमें से बहुत सारे अन्तर समाज के कारण ही हैं। इसी

लिए यह अध्ययन बहुत रोचक हो जाता है कि अलग-अलग तरह के समाज किस तरह लोगों का ईमानदार बनना आसान या मुश्किल बनाते हैं, समाज कैसे बदलते हैं, समाज में कौन-सी प्रक्रियाएँ होती हैं जो अच्छाई और बुराई की तरफ ले जाती हैं इत्यादि। यह अध्ययन हमें मानव जीवन में शिक्षा के महत्व के बारे में भी बताता है। शिक्षा से ही हम अपना चरित्र, ज्ञान और कर्म पाते हैं। शिक्षा सिर्फ स्कूल में नहीं होती, वह समाज के कई हिस्सों में लगातार चलती रहती है।

सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिससे लोग समाज के सदस्य बनते हैं। ज़ाहिर है यह एक सरल और अविवादित प्रक्रिया नहीं हो सकती। कुछ लोग सामाजीकरण द्वारा अच्छे दास बनाना चाहेंगे, जो आसानी से दब जाएँ और सवाल न उठाएँ। कुछ यह चाहेंगे कि सामाजीकरण आज़ाद सोच के चिन्तक बनाए, जो हर बात पर सवाल उठाकर उसकी गहराई तक जाएँ। समाजशास्त्र जिन मुद्दों पर काम करता है, शायद उनमें से कुछ सबसे महत्वपूर्ण ये हैं कि समाज हमें किस तरह का व्यक्ति बनाता है और हम जैसे व्यक्तियों का समाज पर क्या असर पड़ता है। समाजशास्त्री यह मानते हैं कि लोगों में कई तरह की क्षमताएँ होती हैं। इनमें से कौन-सी क्षमता यथार्थ में तब्दील होती है और कौन-सी नहीं, यह काफी हद तक इस पर निर्भर करता है कि हमारा समाज कैसा है, और इस पर भी हम किस तरह मेहनत करते हैं और किस तरह का विवेक दिखाते हैं।

भारत में शिक्षा का सामाजिक परिवेश

आगे चलकर हम कुछ बुनियादी प्रक्रियाओं को समझने की कोशिश करेंगे जो भारत में शिक्षा का सामाजिक परिवेश बनाती हैं। यह प्रक्रियाएँ हमें भारत में शिक्षा और उसके सामने खड़ी चुनौतियों को ज़्यादा अच्छी तरह समझने में मदद करेंगी। हमारे सामने आने वाली रोज़मर्रा की समस्याएँ और कश्मकश असल में इन प्रक्रियाओं से जुड़ी हैं। अत: इन मौलिक प्रक्रियाओं को ज़्यादा अच्छे से समझ कर हम कई तरह के मुद्दों पर अपनी पकड़ मजबूत कर पाएँगे। यह दावा किए

बिना कि सिर्फ यही महत्वपूर्ण हैं, आगे आने वाले पन्नों में मैं निम्न तीन प्रक्रियाओं की चर्चा करूँगा -

1. उत्पादन, आदान-प्रदान और उपभोग की बदलती व्यवस्था - यह व्यवस्था बुनियादी रिश्तों पर प्रभाव डाल रही है। साथ ही ये बाज़ारीकरण और शोषण दोनों को बढ़ाते हुए, दमन के कई पुराने तरीकों को खत्म भी कर रही है। पूँजीवाद एक ताकत है जो विशेष रूप से वैश्वीकरण के ज़रिए कई पुरानी व्यवस्थाओं को बदल रहा है। उसका विरोध करने वाली ताकतों में से कुछ की यह माँग भी है कि नैतिकता और संस्कृति को मुनाफे से ज़्यादा महत्व दिया जाए। साथ ही, जनतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था अपनेआप में कई तरह के दबाव पैदा करती है जो पूँजीवाद के विपरीत जाते हैं। शिक्षा प्रणाली लोगों को इन प्रक्रियाओं में झोंकती है और खुद भी उससे प्रभावित होती है।
2. बढ़ती सामाजिक जटिलता - आज के दौर में कई सामाजिक समूहों को एक-दूसरे के साथ रहने के तरीके सीखने की आवश्यकता है। अब न तो वे खुद कहीं भाग सकते हैं और न ही दूसरों को कहीं भगा सकते हैं। औद्योगीकरण और आधुनिक राजनीति दोनों ने यह परिस्थिति हमारे सामने लाकर खड़ी कर दी है। अब शिक्षा के सामने सवाल है कि वह कैसे उन संस्कृतियों का विकास करने में मदद करे जो विभिन्न समूहों के बीच संवाद सम्भव बनाते हुए उनकी स्वायत्तता और जीवन्तता को भी बरकरार रखें।
3. नौकरशाही संगठनों का फैलाव - जैसे-जैसे समाज और उनके अन्दर के संगठन बड़े होते जा रहे हैं, उन्हें अपना काम करने का तरीका बदलना पड़ रहा है। इस परिवर्तन का महत्वपूर्ण रुख है नियमों का बढ़ना और काम करने का निर्वैयक्तिक या औपचारिक तरीका। शैक्षिक संस्थाओं में भी यह परिवर्तन हुआ है और सरकारी कामकाज के तरीके में भी। शिक्षा के कई प्रमुख विवाद इस परिवर्तन से जुड़े हुए हैं।

सन्दर्भ

- मीड, मार्ग्रेट, *कल्चर एंड कमिटमेंटः ए स्टडी ऑफ द जेनेरेशन गैप*, अमेरिकन म्युज़ियम फॉर नेचुरल हिस्ट्री, गार्डेन सिटी, एनवाई, 1970
- राव, एस श्रीनिवास, "स्ट्रकचरल एक्सक्लूज़न इन एवरीडे इंस्टिट्युशनल लाइफः लेबलिंग ऑफ स्टिग्मैटाइज़्ड ग्रुप्स इन एन आईआईटी", गीता नाम्बिसान व एस श्रीनिवास राव, *सोशयोलॉज़ी ऑफ एजुकेशन इन इंडियाः चेंजिंग कॉन्टुअर्स एंड एमर्जिंग कंसर्न्स* में प्रकाशित, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2013, पृ. 199 – 223

आगे पढ़िए

- मिल्स, सी राइट, *द सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशन*, हार्मंड्सवर्थः पेंग्विन, 1975 (1959)
- बॉउमन, ज़िगमंट, *थिंकिंग सोशियोलॉजिकली*, ब्लैकवेल, 1990
- *भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकासः कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक*, राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 2009ए
- *भारतीय समाजः कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक*, राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 2009बी
- *समाज का बोधः कक्षा 12 के लिए पाठ्यपुस्तक*, राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 2009सी
- *समाजशास्त्र परिचयः कक्षा 11 की पाठ्यपुस्तक*, राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, 2009डी
- अकीरा, जेकब, *एजुकेशनः सोशियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव*, जयपुर व नई दिल्लीः रावत, 2004
- मेगैन व अन्य, *सोशियोलॉजी ऑफ एजुकेटिंग*, पॉचवां संस्करण, कॉन्टिन्युअम, 2007

2
जटिल समाजों में शिक्षा

भारत में शिक्षा आज कई तरह के सामाजिक बदलावों के चौराहे पर खड़ी है। ये सामाजिक बदलाव शैक्षिक सवालों को बुनियादी तरीके से प्रभावित करते हैं। बदलाव की पहली प्रक्रिया जिसे हम इस पुस्तक में जाँचेंगे, वह है सरल समाज से हटकर अधिक जटिल समाज की दिशा में बढ़ना, जिसके कारण हमारे तमाम सांस्कृतिक विश्वास, मूल्य और आचरण उलट-पुलट हुए जा रहे हैं। इसका क्या मतलब है और यह हो क्यों रहा है, यह समझने के लिए हम समाजशास्त्र की एक बुनियादी अवधारणा से शुरुआत करते हैं। वह यह कि हम अपना जीवन किसी सामाजिक ढाँचे के अन्दर कुछ खास भूमिकाओं को निभाते हुए गुज़ारते हैं। भूमिकाएँ एक खास सामाजिक ढाँचे में बनती हैं और उस ढाँचे की विशेषताओं के कारण ही हमारे सबसे महत्वपूर्ण विचार और भावनाएँ उभरती हैं।

भूमिकाएँ और ढाँचे

समाजशास्त्र के केन्द्र में यह अवलोकन है कि हमारे सामाजिक जीवन में तमाम दूसरे लोगों के साथ हमारे किसी न किसी तरह के रिश्ते होते हैं। ये रिश्ते प्रेम के हो सकते हैं जैसे कि मेरे और मेरे सबसे अच्छे मित्र के बीच, घृणा के हो सकते हैं जैसे मेरे और उन लोगों के बीच जो मुझ पर हावी होने की कोशिश करते हों, या उन लोगों के प्रति श्रद्धा के हो सकते हैं जिनके काम और विचारों का मैं सम्मान करता हूँ वगैरह। किसी स्कूल में जो सीखा जाता है उसका

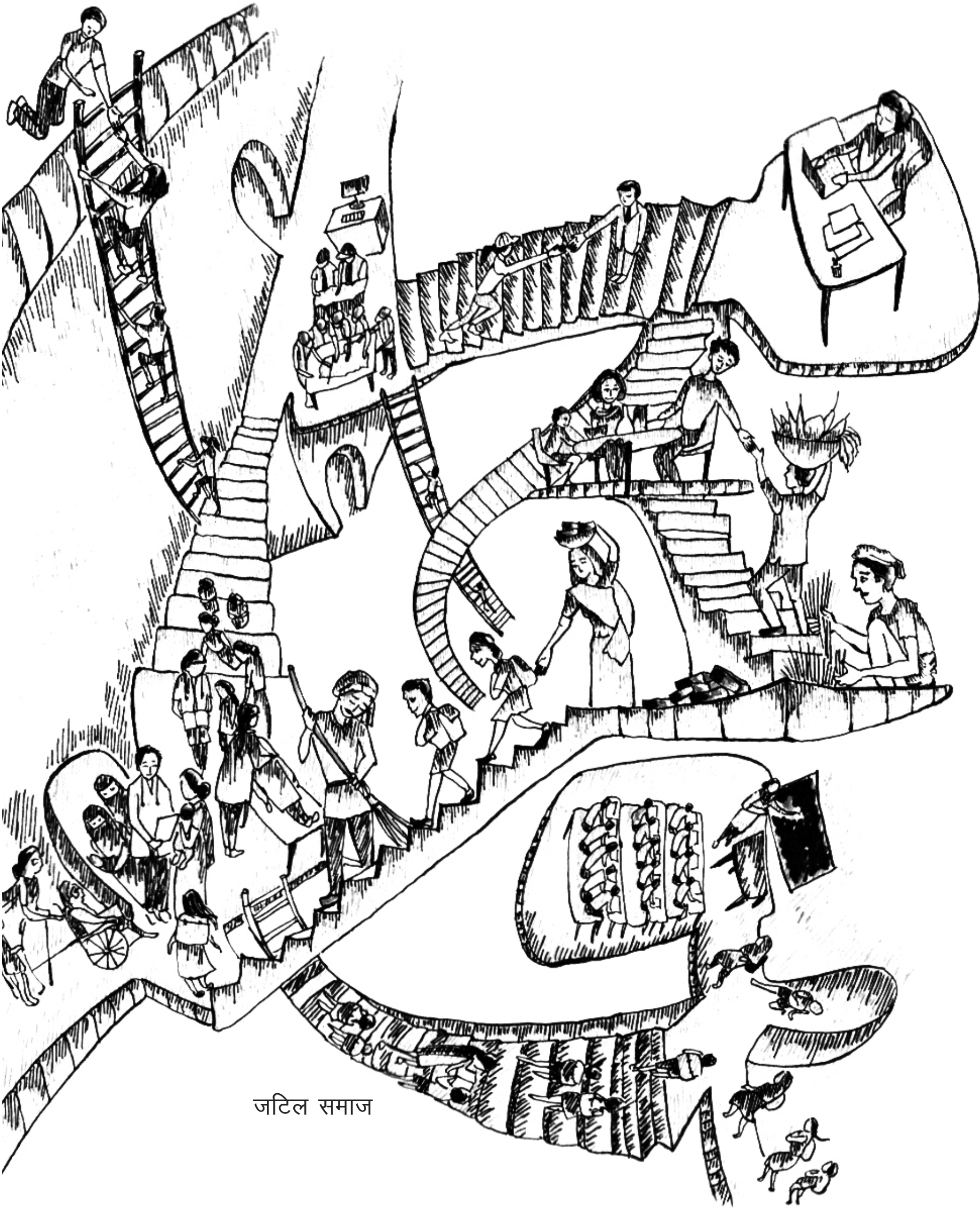

जटिल समाज

चरित्र शिक्षक और उसके छात्रों के रिश्तों से बुना जाता है। समाज में इन तमाम रिश्तों में से कुछ बहुत जल्दी-जल्दी बदलते हैं पर कुछ का स्वरूप नियमित और स्थिर रहता है। उदाहरण के लिए, किसी समाज में कुछ लोग ऐसे होंगे जो खाद्य पदार्थों का उत्पादन करते हैं, कुछ दूसरे जो उनका वितरण करते हैं और कुछ अन्य जो इन पदार्थों का उपभोग करते हैं। इनमें हर एक का एक-दूसरे से एक खास रिश्ता होता है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति कुछ मिनटों के लिए खेत में मिट्टी खोद ले। ऐसे व्यक्ति के बारे में हम यह नहीं कहते कि वह समाज में खाद्य उत्पादन की भूमिका निभा रहा है। जिन्हें हम भूमिकाएँ कहते हैं, दरअसल ये ही तुलनात्मक रूप से टिकाऊ रिश्ते होते हैं। इस उदाहरण में किसान, सब्ज़ी बेचने वाले और खरीददार की भूमिकाएँ हैं। कभी-कभार ये तमाम भूमिकाएँ एक ही व्यक्ति में शामिल हो सकती हैं तो कभी वे भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ होती हैं। जब भूमिकाएँ मिली-जुली होती हैं तो शोषण या दमन का मौका कम मिलता है। पर जब वे अलग-अलग होती हैं तो सिद्धान्ततः दमन की सम्भावना ज़्यादा रहती है, हालांकि यह ज़रूरी नहीं कि हर स्थिति में दमन होगा ही। उदाहरण के लिए, किसान को लग सकता है कि उसका शोषण हो रहा है क्योंकि उसे कम पैसे मिलते हैं जबकि सब्ज़ियाँ बेचने वाला भारी मुनाफा कमाता है। समाज में कई अन्य प्रकार की भूमिकाएँ भी होती हैं। भूमिकाओं और रिश्तों को उस समाज के ढाँचे के रूप में देखा जा सकता है, और ये ढाँचे भी कई प्रकार के हो सकते हैं। कई बार यह कहा गया है कि समाजशास्त्र मूल रूप से रिश्तों और भूमिकाओं के अध्ययन का नाम ही है।

भूमिकाओं के ढाँचों का हमारे जीवन में भारी प्रभाव होता है। किसी एक प्रकार के सामाजिक ढाँचे में छात्रों और शिक्षकों के अनुभव किसी दूसरे प्रकार के सामाजिक ढाँचे में होने वाले अनुभव से बिलकुल फर्क हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक खास किस्म के ढाँचे में शिक्षक परिवार के वरिष्ठ सदस्य जैसा हो सकता है, जो सीखने वाले का मार्गदर्शन प्रेम और भावना के साथ करता है। पर किसी दूसरे प्रकार के ढाँचे में शिक्षक एक नौकरशाह जैसा हो सकता है जो छात्रों के

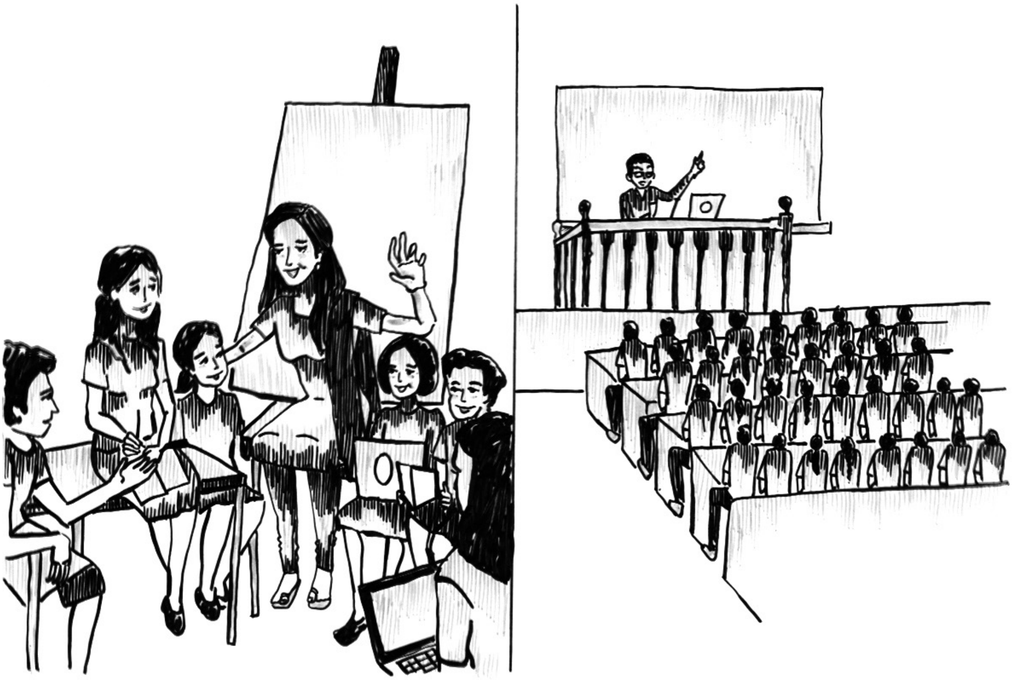

स्कूल में जो सीखा जाता है उसका चरित्र शिक्षक-छात्र संबंधों से प्रभावित होता है

शिक्षण को नियम-पुस्तिका में दिए कायदे-कानून के अनुसार दिशा देता हो। भिन्न-भिन्न समाजों के ढाँचे विपरीत हो सकते हैं, साथ ही एक ही समाज के विभिन्न स्कूलों के ढाँचे भी अलग-अलग हो सकते हैं। जो छात्र किसी एक प्रकार के स्कूल से दूसरे प्रकार के स्कूल में जाता है उसे फौरन महसूस होता है कि 'कुछ' बदल गया है। किसी एक किस्म के स्कूल का ढाँचा सपाट हो सकता है और उसमें प्रशासन, शिक्षकों और छात्रों की भूमिकाएँ अस्पष्ट हो सकती हैं, जिसके चलते व्यक्तिगत स्नेह और व्यक्तिगत भिन्नता के लिए काफी गुंजाइश रहती है। पर जहाँ ढाँचा श्रेणीबद्ध हो, जिसमें भूमिकाओं का कठोर विभाजन हो, वहाँ सम्भव है कि रिश्ते निर्वैयक्तिक हों और श्रेष्ठता के एक दूरस्थ आदर्श पर केन्द्रित हों। समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ इन अन्तरों को समझने में छात्रों, शिक्षकों और प्रशासकों की मदद करती हैं और उन्हें प्रत्येक ढाँचे के फायदों और नुकसानों का आकलन करने में सहायता देती हैं।

औद्योगीकरण व जटिल समाज: शिक्षा के लिए चुनौतियाँ

शिक्षा जिस सामाजिक ढाँचे में कार्य करती है उससे उसका बेहद करीबी सम्बन्ध होता है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों में एक थे एमील दुर्खाइम (1857-1917), जिन्होंने औद्योगीकरण और उसके कारण उनके समाज में आ रहे बदलावों पर ध्यान देते हुए उन बदलावों की बुनियादी रूपरेखा पेश की थी। शिक्षा के बहुत सारे सवाल भी इसी से जुड़े थे। उन्होंने एक छोर पर सरल सामाजिक ढाँचे और दूसरे छोर पर जटिल सामाजिक ढाँचे में अन्तर किया था, और साथ ही, इन दोनों छोरों के दरमियान आने वाले अनेक दूसरे ढाँचों में भी। उन्होंने कहा था कि ज़्यादा जटिल समाजों की अपनी खास किस्म की परिस्थितियाँ और समस्याएँ होती हैं जो हमें नए सिरे से यह सोचने पर बाध्य करती हैं कि कौन-से समाधान सबसे सही होंगे। ज़्यादा सरल सामाजिक ढाँचे में तुलनात्मक रूप से कम भूमिकाएँ होती हैं साथ ही उसके भीतर की एक आत्म-निर्भर इकाई भी छोटी होती है। शिकारी-संचयी समूहों (Hunter-gatherer groups) के समाज में या कई ऐसे आदिवासी समुदायों में जो थोड़ी-बहुत खेती करते हैं उनका समूचा सामाजिक अनुभव उनके छोटे-से समूह में सीमित भूमिकाएँ अदा करने का होता है। शिकारी-संचयी दल में अमूमन 100 से ज़्यादा लोग नहीं होते थे और वे ही सारी भूमिकाएँ निभाते थे - उत्पादक से लेकर उपभोक्ता की और शिक्षक से लेकर छात्र की। ऐसे समाज में एक ही व्यक्ति का एक से अधिक भूमिकाएँ निभाना आम था। इसके दूसरे छोर पर औद्योगिक समाज आते हैं जिनमें भूमिकाओं की ज़बरदस्त बढ़ोतरी हुई है। यहाँ भूमिकाएँ इतनी जटिल हो गई हैं कि उनमें से किसी एक को ही सही ढंग से निभाना सीखने में कई साल लग जाते हैं। इस कारण भूमिकाओं में सिकुड़न और विशेषज्ञता आई है। सामाजिक जीवन जीने का पैमाना छोटे से बेहद विशाल हो चुका है; साथ ही कई स्तर व समूह एक-दूसरे से जुड़ गए हैं। बढ़ती संख्या और जटिलता के चलते समाज का स्वरूप बुनियादी तौर पर बदल गया है। इसके साथ ही, शिक्षा से हमारी अपेक्षाएँ और समाज पर शिक्षा के प्रभाव भी बदल गए हैं।

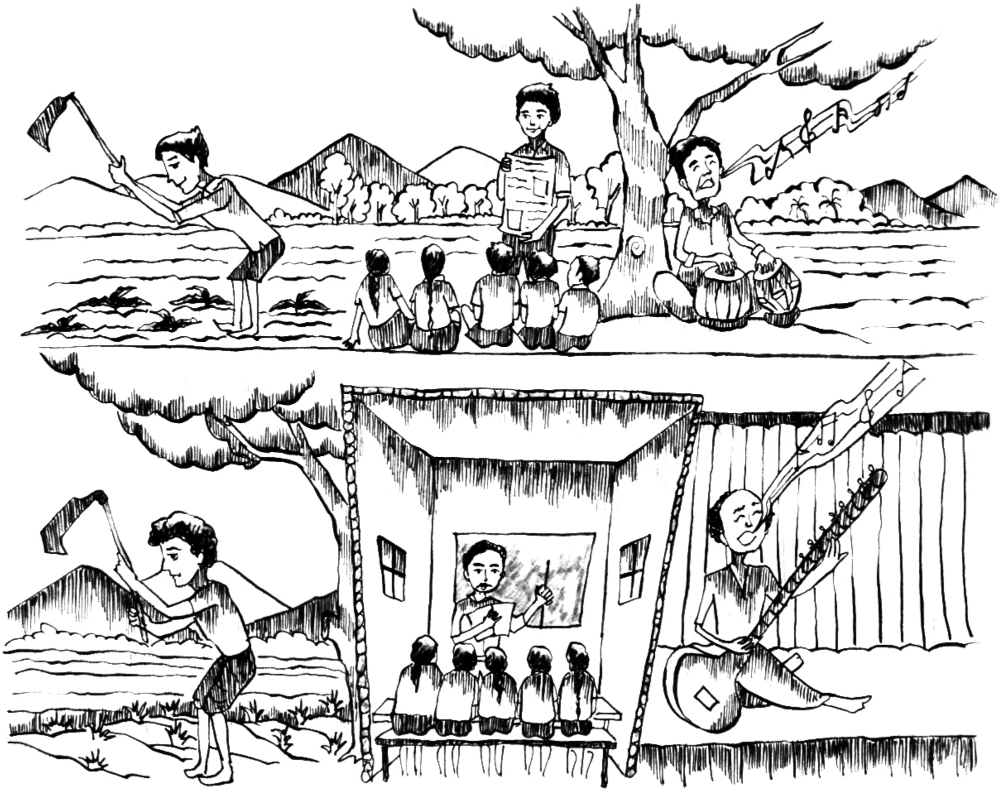

भूमिकाओं के विशिष्टीकरण की दिशा में बदलाव

सड़क पार करने के सरल से काम के उदाहरण को ही देख लें। मैं आजकल जिस जगह काम करता हूँ उसके सामने एक बहुत बड़ी सड़क है जिस पर गाड़ियों की अन्तहीन कतार लगातार प्रवाहित होती रहती हैं। उस सड़क पर बेहद भीड़-भाड़ रहती है क्योंकि वह एक महत्वपूर्ण आर्थिक केन्द्र तक जाती है। दसियों हज़ार वाहन आते-जाते हैं। अगर वह सड़क किसी गाँव के रिहायशी इलाके को जा रही होती, तो वाहनों की आवाजाही भी बहुत कम होती। ऐसे में यातायात के नियमों की कोई दरकार नहीं होती और अगर कोई सड़क के बिलकुल बीचो-बीच भी चलता तो कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन अगर इस हाईवे पर कोई ऐसा करे तो बड़ी दुर्घटना का शिकार हो सकता है।

दुर्घटनाओं और ट्रैफिक जाम से बचाव के लिए सख्त नियम हैं कि कहाँ वाहन चलेंगे और कहाँ पैदल चला जा सकता है। इतना ही नहीं, नियम यह भी साफ करते हैं कि वाहनों को कहाँ रुकना होगा। कुछ खास लोग, जिन्हें हमारा समाज ट्रैफिक पुलिस कहता है, जगह-जगह खड़े रहते हैं और जो लोग नियमों का पालन नहीं करते उन्हें फटकार लगाते हैं या फिर जुर्माना भरने को कहते हैं।

जब चौराहे पर खड़े होकर मैं लोगों को देखता हूँ, मैं भाँप लेता हूँ कि कौन इस जटिल दुनिया में नया-नया आया है और कौन इसका कुशल सदस्य है। शहरी जीवन का नौसिखिया बौखलाया-सा होता है, उसे समझ में ही नहीं आता कि वह कहाँ जाए और कहाँ रुके। वह हैरान-परेशान और तनाव में होता है और कहता है कि यह विशाल शहर डरावनी जगह है। जो व्यक्ति यहाँ कुछ समय से रह रहा हो वह बखूबी जानता है कि उसे कब रफ्तार घटानी है और कब बढ़ानी है। पर गाँव की आदतों के चलते मौका पाते ही वह आगे निकलने की कोशिश करता है, जिससे कई बार यातायात रुक जाता है या जाम होने की सम्भावना बन जाती है। वह भी तनाव में रहता है और उसे लगता है कि वह किस तरह इस नरक से जल्द से जल्द निकले। पर जो सबसे ज़्यादा तजुर्बे वाले होते हैं, वे घबराते नहीं और उस प्रवाह से आराम से निकल जाते हैं। वे समझ चुके होते हैं कि भीड़-भाड़ में आराम से बढ़ना ही सही तरीका है। लाल बत्ती पर वे बिना किसी शिकन के रुक जाते हैं, इधर-उधर से निकलने की कोशिश नहीं करते। जटिल समाजों में स्थितियों से निपटने के तौर-तरीके सरल समाजों से बिलकुल फर्क होते हैं। नए सन्दर्भ में पुराने तरीकों को अपनाए रखना अक्सर कारगर नहीं होता। यह ज़रूरी हो जाता है कि सड़क पार करने जैसे साधारण काम पर भी नए सिरे से सोचा जाए। शिक्षा से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह युवा पीढ़ी को जटिल समाज के तौर-तरीके सिखाए। हम चाहते हैं कि शिक्षा उन्हें ऐसे सामाजिक ढाँचे के लिए उचित संस्कृति सिखाए। यह संस्कृति सरल समाजों की शिक्षा से काफी अलग होगी।

विशिष्टतावादी से सार्वभौमिकतावादी संस्कृति की ओर

संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण व आवश्यक हिस्सा है। हम इसे विरासत में पाकर सीखते हैं और स्वयं इसे रचते व बदलते भी हैं। संस्कृति से हमारा तात्पर्य अमूमन उन सामूहिक विचारों, विश्वासों, मूल्यों, नज़रियों व आचरणों से होता है जो रोज़मर्रा के जीवन में हम सोचते, महसूसते और करते हैं। संस्कृति ही वह ताना-बाना है जिसके मार्फत हम एक दूसरे का अर्थ समझ पाते हैं और नए अर्थ बना भी पाते हैं। इसमें रोज़ाना सामने आने वाली तमाम छोटी-बड़ी चीज़ें भी शामिल हैं, जैसे सड़क कैसे पार की जाए। वही हमें सुझाती है कि हम अपने समय के सबसे बड़े सवालों को किस प्रकार समझें और उन पर कैसे प्रतिक्रिया करें। जैसे, सामाजिक दमन से कैसे निपटा जाए या अपने से बिलकुल भिन्न संस्कृति के व्यक्ति से कैसे संवाद किया जाए। कोई भी संस्कृति दूसरी संस्कृतियों से पूरी तरह से अलग और अनोखी नहीं होती। दुनिया भर की संस्कृतियों में कुछ तत्व समान होते हैं पर साथ ही उनमें भारी अन्तर भी होते हैं। अक्सर यह पता करना कठिन होता

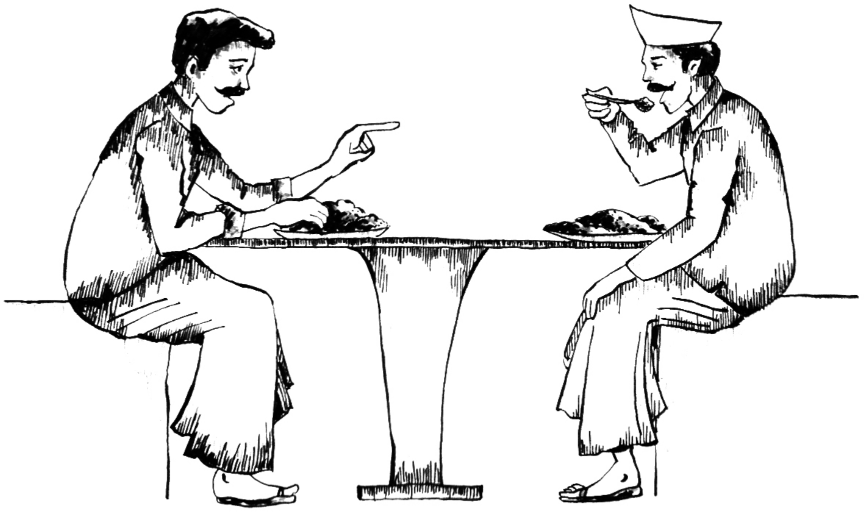

संस्कृति में समानता और अंतर

है कि एक संस्कृति की सीमा कहाँ खत्म होती है और दूसरे की कहाँ शुरू। दो राज्यों या देशों के बीच राजनैतिक सीमा खींचना तो मुमकिन है, पर उनके बीच एक कठोर सांस्कृतिक सीमा खींचना मुमकिन नहीं है। मिसाल के लिए, महाराष्ट्र और कर्नाटक की राजनैतिक सीमा बिलकुल साफ हो सकती है मगर उनके बीच कोई सांस्कृतिक सीमा खींचकर यह कह पाना असम्भव है कि कहाँ महाराष्ट्र खत्म होता है और कर्नाटक शुरू। बल्कि इस दृष्टि से यह कहना भी सम्भव नहीं कि कहाँ पाकिस्तान या श्रीलंका खत्म होते हैं और भारत शुरू होता है। तमाम साझे सांस्कृतिक विश्वास, विचार, आचरण, भाषा, मुहावरे आदि ऐसे हैं जो राजनैतिक सरहदों के आर-पार प्रवाहित होते हैं।

थोड़ा और गहराई से देखें तो सामाजिक ढाँचों के सरल से जटिल बनने के साथ ही संस्कृतियों में भी उसके अनुकूल बदलाव देखने को मिलेंगे। जहाँ सरल समाज व्यक्तिगत, परिवार आधारित रिश्तों को रेखांकित करते हैं और उन्हें सबसे ज़्यादा अहमियत देते हैं, वहीं जैसे-जैसे समाज जटिल बनते जाते हैं, गैर-पारिवारिक स्थितियाँ अधिक महत्वपूर्ण बन जाती हैं। ऐसे में कई सांस्कृतिक बदलाव उभर सकते हैं। 'मैं कौन हूँ' का भाव 'मेरा परिवार' और 'उसका इतिहास' के बदले 'मैं किस स्कूल में पढ़ता हूँ' या 'मैं कारखाने या दफ्तर या खेत में क्या करता हूँ', इससे प्रभावित हो सकता है। इस बदलाव को अक्सर विशिष्टतावाद (Particularistic) से सार्वभौमिकतावाद (Universalistic) की दिशा में बढ़ना कहा जाता है। जिन संस्कृतियों को हम ज़्यादा विशिष्टतावादी कहते हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिकाओं का वास्ता छोटे सामाजिक नेटवर्कों से, 'विशिष्ट' से, परिचित लोगों से होता है। उदाहरण के लिए, ऐसे समाज में मैं न केवल अपने भाई-बहनों के बच्चों का चाचा/ताऊ या मामा होता हूँ बल्कि अपने चचेरे, फुफेरे, ममेरे भाई-बहनों के बच्चों का भी। और चाचा/ताऊ/मामा के रूप में मेरा यह दायित्व हो सकता है कि मैं अपने सभी भांजों/भांजियों, भतीजों/भतीजियों को पढ़ाऊँ। अगर कोई दूसरा भी मुझसे पढ़ना चाहे तो मैं उसे भी पढ़ा सकता हूँ पर मेरे आसपास के महत्वपूर्ण लोगों की उम्मीद

यही रहेगी कि मैं उन लोगों पर ध्यान दूँ जो मेरे रिश्तेदार हैं। लेकिन किसी सार्वभौमिकतावादी समाज में, अगर मैं शिक्षक बनकर किसी स्कूल में पढ़ाने लगता हूँ तो यह उम्मीद की जाएगी कि मैं उन सबको सिखाऊँ जो सीखना चाहते हैं। यहाँ इस बात पर खास बल दिया जाता है कि मैं केवल अपने सम्बन्धियों पर ध्यान न दूँ। बल्कि मुझे चेताया जाएगा कि मैं अपने रिश्तेदारों के बच्चों और दूसरे अपरिचित छात्रों के बीच कोई भेदभाव न करूँ। इस स्थिति में भाई-भतीजावाद एक बुरी बात मानी जाती है।

जटिल ढांचे अक्सर सार्वभौमिकतावादी संस्कृति की तरफ बढ़ते हैं, क्योंकि उन्हें अधिकाधिक लोगों को परस्पर जोड़े रखने की ज़रूरत होती है। यह ठीक कैसे होता है उसका स्वरूप अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग रूप लेता है, फिर भी हम एक सांस्कृतिक बदलाव देख पाते हैं जो सबकी समानता को स्वीकारने की दिशा में ले जाता है और यह कहने पर बाध्य कर देता है कि न्याय सिर्फ मेरे समुदाय को या रिश्तेदारों को नहीं बल्कि सबको मिलना चाहिए। ये सार्वभौमिक सिद्धान्त कुछ स्थानों में अधिक विकसित हो सकते हैं तो अन्य जगहों में कम, क्योंकि वहाँ इन सिद्धान्तों को ऐसे लोगों के विरोध का सामना करना पड़ता है जिनकी संस्कृति छोटे स्तर के समाजों की हो और जिनकी सत्ता और समृद्धि ऐसे ही सामाजिक ढाँचों से आती हो। सामाजिक असमानता और अन्याय नए स्वरूपों में भी उभर सकते हैं। जटिल समाजों में अलग-अलग छोटे समुदायों के बीच की असमानता के बदले वर्गीय असमानता उभर सकती है। बेशक यह ज़रूरी नहीं है कि समाज हमेशा विशिष्टतावादी से सार्वभौमिकतावादी की ही दिशा में बढ़े। आप इतिहास में पाएँगे कि सिन्धु घाटी सभ्यता जैसा जटिल समाज भी ध्वस्त होकर पुन: अधिक सरल, छोटे स्तर के ग्राम समाज में तब्दील हो गया। या यह भी सम्भव है कि जातिवाद और नस्लवाद पहले की तुलना में कम दृश्य रूपों में बरकरार रहे।

दुर्खाइम ने अपनी रचना *द डिविज़न ऑफ लेबर इन सोसायटी* (1893) में यह याद दिलाया था कि जटिल समाजों के अनुकूल संस्कृतियों

की दिशा में बढ़ना इतना आसान नहीं होता। रिश्तेदारी आधारित सम्बन्ध कम महत्वपूर्ण बनते हैं लेकिन वे पूरी तरह गायब नहीं होते, और समूहों के नए स्वरूप उभरते हैं। इन समाजों में भी कई तरह के शोषण और दमन हो सकते हैं जिनके कारण कुंठा और क्रोध भड़कते हों। कोई एक समूह अन्य समूहों का दमन कर सकता है या उसके सदस्यों को लग सकता है कि केवल वे ही अच्छे लोग हैं और बाकी सब घटिया और असभ्य हैं या किसी न किसी तरह ठुकराए या नकारे जाने के योग्य हैं। जटिल समाजों को बने रहने के लिए कई चीज़ों की ज़रूरत होती है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण है जुड़ाव या एकजुटता (Solidarity) की भावना जो उसे बांधे रखे। यह एकजुटता सरल और छोटे स्तर के समाजों में भी ज़रूरी होती है, जहाँ यह दैनिक आदान-प्रदान और उत्सवों के द्वारा रची जाती है। दुर्खाइम ने सरल प्रकार की एकजुटता को मशीनी (मैकेनिकल) एकजुटता कहकर परिभाषित किया था। ऐसी एकजुटता भावनात्मक व भाई-चारे की भावनाओं पर आधारित होती है जो रोज़मर्रा होने वाले आमने-सामने के परस्पर क्रिया-कलापों से उपजती है।

दूसरी तरफ, जटिल समाजों में एकजुटता बनना कहीं ज़्यादा पेचीदा होता है। उनमें अमूमन अलग-अलग तरह के लोगों का हर दिन आपसी आदान-प्रदान नहीं होता। आजकल के जटिल समाजों में व्यावसायिक समूह होते हैं, जैसे कारखानों में काम करने वाले, चिकित्सक, शिक्षक आदि-आदि। उनका सम्पर्क अन्य समूहों के लोगों की बजाय अपने ही समूह के लोगों से अधिक होता है। भारत जैसे देश में जहाँ अनेक भाषाएँ, धर्म व समुदाय हैं वहाँ एकजुटता को गढ़ने में तमाम कठिनाइयाँ पेश आती हैं - तमिलों को लग सकता है कि वे गुजरातियों या कन्नड़ों से भिन्न हैं, मिज़ोरम से आने वाले लोग जब दिल्ली पहुँचते हैं तो हो सकता है वहाँ के लोग उन्हें अपना न मानें। ऐसे समाजों की समस्या हमेशा यह रहती है कि उसके विभिन्न और विविध भागों के बीच जुड़ाव की भावना कैसे रची जाए।

जुड़ाव की इस भावना को कायम करने का एक तरीका आपसी ज़रूरतों के आधार पर बाज़ार के माध्यम से वस्तुओं के लेन-देन का है। दुर्खाइम ने इस बाज़ार आधारित एकता को अनुबन्धीय एकजुटता कहा था, पर साथ ही यह भी कहा था कि ऐसी एकजुटता मज़बूत और स्थाई जुड़ाव की ओर नहीं ले जाती। बाज़ार के सम्बन्ध बहुत कमज़ोर होते हैं, क्योंकि जब भी कोई बेहतर सौदा होने की सम्भावना हो तो अनुबन्ध तोड़े जा सकते हैं और नए अनुबन्ध किए जा सकते हैं। कोई भी समाज उस स्थिति में कायम नहीं रह सकता जहाँ रिश्ते इतने असुरक्षित और अस्थाई हों। उन्होंने कहा था कि अगर जटिल समाजों को बने रहना है तो उन्हें जैविक एकजुटता की आवश्यकता होगी, जो ऐसी संस्कृति पर आधारित हो जो तमाम तरह के सामाजिक समूहों व

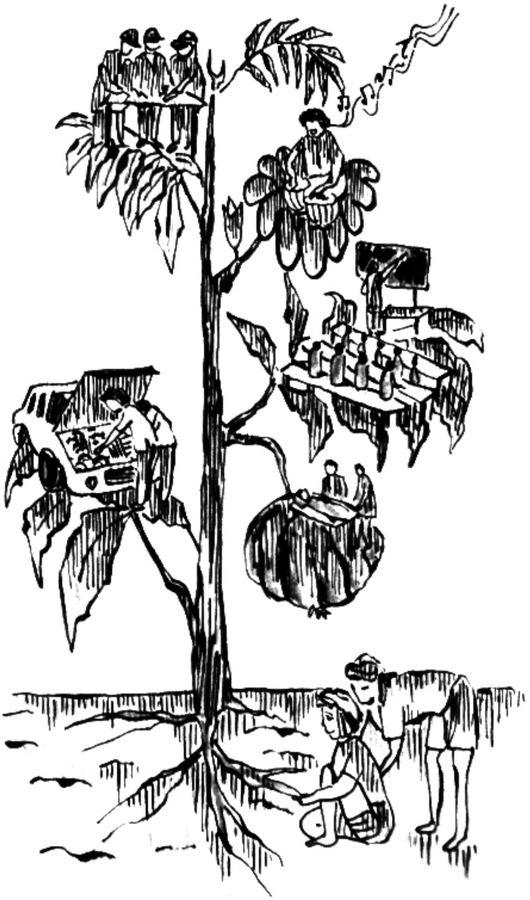

मशीनी, अनुबंधीय और जैविक एकजुटता

विभाजनों के बीच संवाद स्थापित कर सके। 'जैविक' शब्द का उपयोग कर दुर्खाइम पौधों और उनके अंगों को जोड़े रखने की प्रक्रिया का उदाहरण दे रहे थे। वे यह इशारा कर रहे थे कि जिस तरह पेड़-पौधों व जानवरों के शरीर में अनेक अंग होते हैं जो परस्पर जुड़े होते हैं उसी तरह समाज में कई समूह व समुदाय होते हैं जो आपस में गहरे जुड़े होते हैं। किसी पौधे के बचे रहने और फलने-फूलने के लिए यह ज़रूरी होता है कि उसके सभी अंग मिल-जुल कर कुशलता से काम करें। हालाँकि पौधे के उदाहरण को बहुत अधिक नहीं खींचना चाहिए। किसी भी समाज के विभिन्न समूहों को अपनी-अपनी जगह मिलनी चाहिए और सबको यह महसूस होना चाहिए कि उन्हें न्याय मिल रहा है। साथ ही उन्हें आपसी जुड़ाव के आनन्द और फायदों का एहसास

भी होना चाहिए। दुर्खाइम के लिए जैविक एकजुटता का अर्थ एक ऐसी संस्कृति था जो बहुत अलग किस्म के लोगों को एक-दूसरे से भावनात्मक रूप से जुड़ने में मददगार हो। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब लोगों को यह न लगे कि उनका फायदा उठाया जा रहा है या उन्हें हाशिए पर धकेला जा रहा है।

कई समाजशास्त्रियों ने यह कहा है कि स्कूलों का महत्वपूर्ण काम विभिन्न समूहों, प्रदेशों और समुदायों में एकजुटता की इसी भावना को गढ़ना है। स्कूल वह जगह है जहाँ अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि के बच्चे व्यापक दुनिया के बारे में सीखने आते हैं। यहीं जैविक एकजुटता की संस्कृति रची जा सकती है। यही कारण था कि दुर्खाइम जैसे लोगों का कहना था कि स्कूलों को दिशा देने में सरकार की एक विशिष्ट भूमिका है। अगर स्कूल किसी एक समुदाय या किसी एक सामाजिक वर्ग द्वारा चलाए जाते हैं तो स्वभाविक है कि वह अपने समूह के नज़रिए को प्राथमिकता देंगे। एक ऐसी संस्कृति जिस पर कोई एक प्रांत या धर्म या समूह हावी हो वह जैविक एकजुटता उपलब्ध नहीं करवा सकती। वह लोगों को जोड़े नहीं रख पाएगी क्योंकि अगर लोगों पर कुछ भी थोपा जाता है तो वे उसे निश्चित ही नापसन्द करेंगे। पर जनतांत्रिक तरीके से चुनी हुई सरकार एक ऐसी संस्था है जिसमें सभी समूहों की भागीदारी होती है। यह एक ऐसा सार्वभौमिक निकाय है जहाँ सब परस्पर जुड़े होते हैं। अत: सरकार को ही यह सुनिश्चित करना होगा कि एक उपयुक्त जैविक संस्कृति रची जाए। क्या पढ़ाया जाए यह तय करने की प्रमुख ज़िम्मेदारी सरकार इस या उस समूह को नहीं सौंप सकती। बेशक इसका मतलब यह भी था कि सरकार स्वयं भी लोकतांत्रिक व न्यायपूर्ण हो, विभिन्न नज़रियों को स्थान दे और उनके बीच सामंजस्य तलाशे।

व्यक्तिवाद, सामाजिक अन्तर और शिक्षा

जैविक एकजुटता की ज़रूरत को रेखांकित करने के साथ-साथ दुर्खाइम और कई दूसरे समाजशास्त्रियों का यह भी मानना था कि बेहद जटिल समाजों में लोगों को अधिक व्यक्तिवादी भी बनना पड़ता

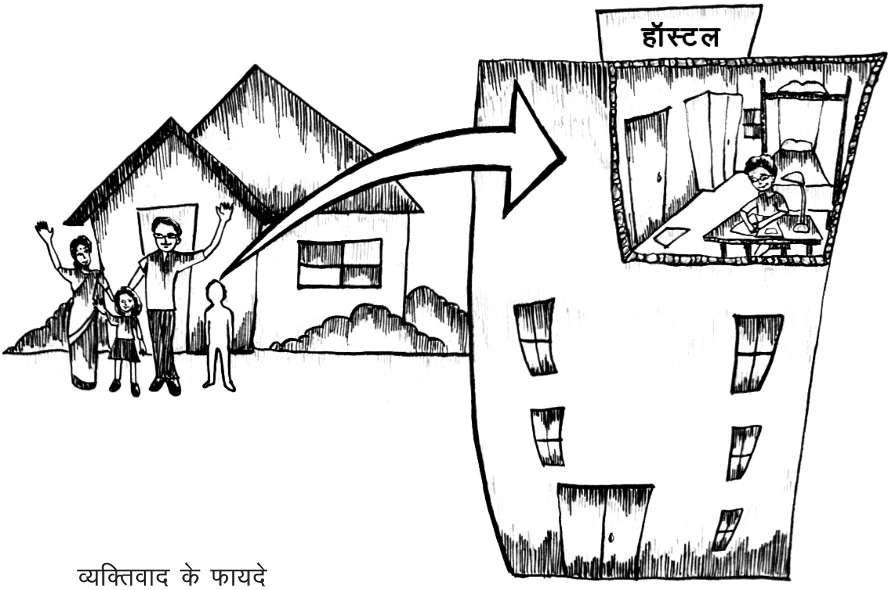

व्यक्तिवाद के फायदे

है। छोटे स्तर के समाजों में सांझी पहचान को तथा एक परिवार और एक समुदाय से होने की भावना को अहमियत दी जाती है। पर जैसे-जैसे समाज बड़े स्तर के बनते जाते हैं, लोगों को ऐसी विविध परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जो उनके माता-पिता के सामने कभी आई ही न हों। ऐसे में कुछ सामुदायिक बन्धनों से पीछे हटना उनके लिए फायदेमन्द रहता है। उदाहरण के लिए, कुछ छात्रों को परिवार को छोड़ कर दूर शहर के छात्रावासों में रहना पड़ता है। इन छात्रों को यह विश्वास होना चाहिए कि वे अकेले रह कर भी खुद को सम्भाल सकेंगे और भावनात्मक सहारे व मार्गदर्शन के लिए उन्हें बार-बार घर भागने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। अगर कोई छात्र अपने परिवार की कमी को बहुत ज़्यादा महसूस करेगा और अपनी कक्षाएँ छोड़ कर त्यौहार आदि मनाने के बहाने बार-बार घर जाता रहेगा तो वह कम सीख पाएगा और दूसरे विद्यार्थियों की तुलना में पिछड़ जाएगा। हालाँकि परिवार के साथ भावनात्मक जुड़ाव काबिले तारीफ

है, जटिल समाजों में यह बेहतर है कि लोग अपने आप ही जीना और काम करना सीख लें। इसी तरह यह भी ज़रूरी है कि वे खुद अपने लिए सोचना भी सीखें। जटिल समाजों की अधिक उलझी हुई भूमिकाएँ यह माँग करती हैं कि लोग अपने काम का स्वतंत्र आकलन करें और तेज़ी से सोच-समझ कर निर्णय लें। इसका यह मतलब है कि छात्रों से यह अपेक्षा रहती है कि वे आत्मनिर्भर हों और ऐसे निर्णय लेने से भी न घबराएँ जो बहुमत से अलग हों। जटिल समाजों में व्यक्तिवाद एक ऐसा गुण सिद्ध हो सकता है जो लोगों को अधिक लचीला और अपने काम में अधिक माहिर बनाता है।

व्यक्तिवाद के अपने खतरे भी हैं। जटिल समाजों में व्यक्तिवाद के चलते यह हो सकता है कि लोगों पर एक संस्कृति की पकड़ ढीली हो और दूसरी कोई संस्कृति उस की जगह न ले सके। या दूसरी संस्कृति अपनी तरफ खींचे मगर व्यक्ति दोनों संस्कृतियों के बीच अपने आप को फँसा हुआ महसूस करे। हो सकता है कि अपने दोस्तों को शाम को घूमता-फिरता देख किसी छात्र का मन करे कि वह भी उनकी तरह घूमे-फिर और मज़े करे। दूसरी तरफ एक अलग संस्कार भी खींचे और कहे कि उसे घर रह कर स्कूल में हुई नई-नई दिलचस्प बातों के बारे में पढ़ना चाहिए। दो अलग संस्कृतियों के बीच में फँसना बहुत ही दुखदायी हो सकता है। दुर्खाइम ने इससे उत्पन्न मानसिक स्थिति को *एनोमी* (Anomie) या सामाजिक मान्यताओं के बिखरने की अवस्था कहा था। यह बहुत तकलीफदेह स्थिति हो सकती है। जो व्यक्ति ज़्यादा देर तक अलग किस्म की संस्कृतियों और उनकी मान्यताओं, विचारों और प्रथाओं के बीच में अपने आप को पाता है, वो यह तय नहीं कर पाता कि इधर जाए या उधर। वह बहुत जल्द ही डिप्रेशन या अवसाद का शिकार हो सकता है। एक तरफ दोस्त और उनकी अपेक्षाएँ तो दूसरी तरफ परिवार और उनकी अपनी अपेक्षाएँ – इनमें से किसी पर भी खरा न उतर पाने की स्थिति में फँसा व्यक्ति तनाव और निराशा का शिकार हो सकता है। यह कुछ ऐसी ही स्थिति है जिसे भारत में लोग धर्मसंकट कहते हैं। दुर्खाइम के मुताबिक यह एनोमी ही है जो

औद्योगिक समाज की कई समस्याओं के रूप में हमारे सामने आती है। इसी के कारण प्रवासी मज़दूर अपने जीवन के खालीपन को शराब के नशे में डुबोने की कोशिश करते हैं। इसके कारण आत्महत्या तक की नौबत आ सकती है। अलग संस्कारों और मान्यताओं के बीच का अनसुलझा संघर्ष बहुत दर्दनाक हो सकता है। मगर इसका दूसरा पहलू भी है। एनोमी की स्थिति व्यक्ति को बहुत रचनाशील भी बना सकती है और अपनी समस्याओं को हल ढूंढने के लिए व्यक्ति नए-नए रास्तों की खोज कर सकता है। जो व्यक्ति अपनी परिस्थिति से परेशान है,

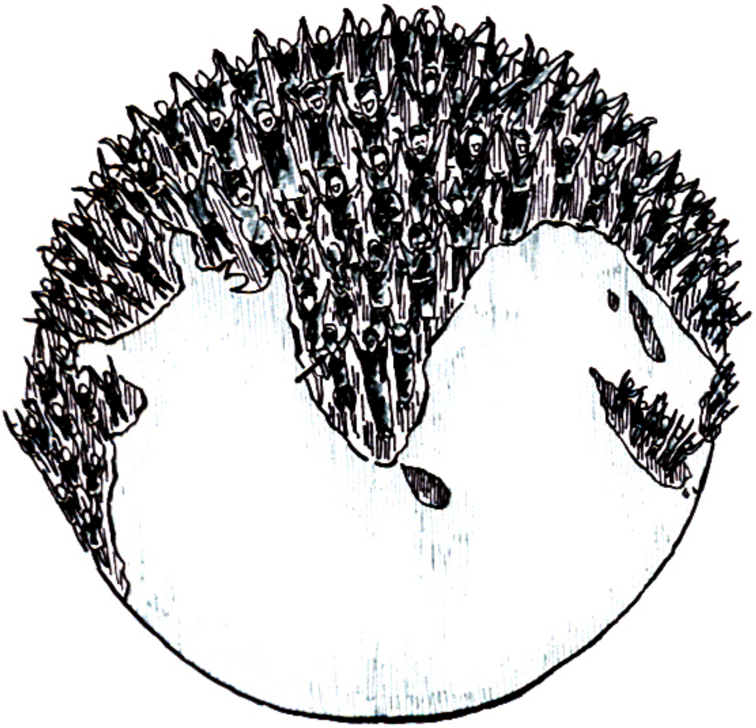

पहचान के विस्तृत होते दायरे

वह उस में बदलाव की ज़्यादा कोशिश करेगा। जो शिक्षक अपने स्कूल के काम करने के रूढ़िगत तरीकों और दूसरी तरफ बच्चों को रोचक तरीके से पढ़ाने के अपने मित्रों की प्रगतिशील सोच के फर्क से त्रस्त है, हो सकता है वह कुछ नया करने के लिए खुद को मजबूर करे। हो सकता है कि वह अपने स्कूल के प्रशासन को कुछ नए विचार देने की कोशिश करे और पढ़ाने के तौर-तरीकों में परिवर्तन लाए।

पिछली शताब्दियों में हमने अनेक ऐसे देशों को उभरते देखा है जिनका आकार बेहद विशाल है और जिनमें सैकड़ों-करोड़ों की आबादी रहती है। इन सभी देशों ने लोगों में साझेदारी व जैविक एकजुटता की भावना उत्पन्न करने की चुनौती का सामना किया है। कुछ देशों ने किसी एक समुदाय या प्रदेश की संस्कृति को शेष लोगों पर लाद कर ऐसा किया है, तो अन्य देशों ने एक उदार पहचान अपना कर। एक सामंजस्यपूर्ण समाज के निर्माण के संघर्ष में शिक्षा केन्द्रीय बिन्दु रही है। वे सब इस समस्या का भी सामना कर रहे हैं कि जैविक एकजुटता केवल तब कायम रहती है जब उनके समाज में आन्तरिक न्याय मौजूद हो।

जटिल समाजों में संस्कृति और पहचान

सम्भव है कि व्यक्तिवाद जटिल समाजों के लिए लाभदायक हो और आज के भारत में लगातार बढ़ रहा हो, मगर विश्व के सबसे बड़े और सबसे जटिल समाजों में अब भी संस्कृति और पहचान का महत्व है। लोगों को अपनी संस्कृति में सुकून और निरन्तरता का एहसास होता है। शादियों और परिवार के बनने पर इसके प्रभाव को ही देख लीजिए। जिसे हम आज 'अरेंज्ड मैरेज' कहते हैं उसमें दो परिवार एक-दूसरे को पसन्द करते हैं और दोनों परिवारों के एक होने की खुशी नवविवाहित जोड़ों को भी एक-दूसरे से प्रेम करना सिखा देती है। मगर आज के दौर में जब लड़के-लड़कियां पढ़ाई के लिए दूर जा कर रहते हैं तो अपनी पहचान के लिए और अपने जीवन की सार्थकता के लिए उन्हें अब अपने परिवार के सहारे कि उतनी ज़रूरत नहीं रहती। उनकी संस्कृति, उनके काम, आराम और आनन्द के मापदंड बदल जाते हैं। वे अपने

लिए ऐसे साथी ढूंढना चाहते हैं जो कि इस नई संस्कृति का हिस्सा हों। इसे व्यक्तिवाद का विकास तो कह सकते हैं मगर इसे संस्कृति का अन्त नहीं माना जा सकता। असल में नई संस्कृतियाँ बन रहीं हैं। और उनके जीवन के अर्थ और रीति-रिवाज़ अब उनके अकादमिक व पेशेवर जीवन से, शहरी रहन-सहन और मीडिया से आते हैं।

कुछ समाजशास्त्रियों का मानना था कि वैश्वीकरण के चलते एक व्यापक विश्व संस्कृति उभरेगी। मगर आज भी अलग-अलग संस्कृतियाँ मौजूद हैं और संस्कृतियों में फर्क भी। एक बदलाव यह आया है कि संस्कृति का दायरा ज़्यादा बड़ा हो गया है और अब वह उतनी स्थानीय नहीं रह गई है जितनी पहले थी। आज से दो शताब्दी पूर्व भोजपुरी बोलने वालों की अलग पहचान थी और यह भाषा लिखित रूप में कम ही दिखती थी। मगर आज उस भाषा को बोलने वाले अधिकांश अपने आप को हिन्दी-भाषी कहते हैं और करोड़ों लोगों के साथ मिल कर हिन्दी या हिन्दोस्तानी अखबार पढ़ते हैं और बॉलीवुड की फिल्में देखते हैं। संस्कृति के दायरे बड़े हो गए हैं, मगर फिर भी उन दायरों के बीच में कुछ ऐसी जगहें हैं जो हमारे दिल के ज़्यादा करीब हैं। सम्भव है कि कोई व्यक्ति स्कूल में सारा दिन अंग्रेज़ी बोलता हो, मगर जब उसे प्यार की बातें करनी हो तो वह हिन्दी या उर्दु का प्रयोग करे। और जब वह अपनी माँ के साथ अपने दुख सांझा करता हो तो उसकी ज़बान पर भोजपुरी ही आती हो।

जटिल समाजों के सामने जो चुनौतियाँ हैं उनमें अहम है अलग-अलग संस्कृतियों के लोगों को एक साथ बाँध कर रखना। आज के दौर की शिक्षा से हमें जो उम्मीदें हैं उनमें से एक यह भी है। हम चाहते हैं कि वह देश के तमाम अलग-अलग लोगों को एक-दूसरे से भी जोड़े न कि सिर्फ उनके परिवार और जात बिरादरी से। हम यह भी चाहते हैं कि वे इन्सानियत के जज़्बे को महसूस करें जिसके चलते वे राष्ट्रीय सरहदों से बाहर निकल कर दुनिया भर के लोगों के सुखों और दुखों को महसूस कर सकें। यह आज के दौर की, समाजों के लगातार और ज़्यादा जटिल होते जाने के दौर की माँग है।

समाजशास्त्रियों का एक समूह, जो प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) कहलाता है, उसकी रुचि यह जानने में ज़्यादा रही है कि समाज किस प्रकार सामंजस्यपूर्ण बनते हैं और जीवित रह पाते हैं। दूसरे शब्दों में, समाज के विभिन्न हिस्से और पक्ष किस प्रकार अपना 'कार्य' करते हैं जिससे समाज पनपता रहे। एमिल दुर्खाइम, टैलकॉट पार्सन्स तथा एम एन श्रीनिवास ऐसे समाजशास्त्रियों के उदाहरण हैं। ऐसे समाजशास्त्र की रुचि यह जानने में रहती है कि शिक्षा व संस्कृति जटिल समाजों को एकीकृत बनाए रखने और अपनी समस्याओं से निपटने में कैसे मददगार होती है। हालाँकि यह भी सच है कि समाजों में कई आन्तरिक तनाव व टकराव भी होते हैं। अगले अध्याय में हम समाज में मौजूद टकरावों पर नज़र डालेंगे, खासतौर से उन टकरावों पर जो हमारी बदलती अर्थव्यवस्था से निकलते हैं और साथ ही हम उन शैक्षिक सवालों पर भी नज़र डालेंगे जो इन टकरावों से पैदा हुए हैं।

आगे पढ़िए

- मदान, अमन, "एमिल दुर्खाइम ऑन मॉरल एजुकेशन", कंटेंपररी एजुकेशन डॉयलॉग, 7 नं. 2, 2010, पृ. 225-48
- रामानुजन, ए के, "इज़ देयर एन इंडियन वे ऑफ थिंकिंग? एन इन्फॉर्मल एस्से", कॉन्ट्रिब्युशन टू इंडियन सोशियोलॉजी, नं. 23 व 41, 1981, पृ. 41-58
- सबरवाल, सतीश, रूट्स ऑफ क्राइसिसः इंटरप्रेटिंग कंटेंपररी इंडियन सोसाइटी, नई दिल्ली, थाउज़ेंड ओक्सः सेज प्रकाशन, 1996

3

शिक्षा, बाज़ार का विकास और सामाजिक टकराव

कई तरह की समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं का भारत की शिक्षा पर गहरा असर हो रहा है। इस लेख में हम बाज़ारों के विकास और खरीद-फरोख्त के ज़रिए माल एवं सेवाओं के आदान-प्रदान के बारे में बात करेंगे। यह परिवर्तन आर्थिक ही नहीं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी हैं। हम ऐसे कई रिश्तों को भी बदलते हुए देख रहे हैं जो पहले गैर-मौद्रिक थे लेकिन अब जिनमें पैसों का लेन-देन बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। इन बदलावों का शिक्षा के रोज़मर्रा के अनुभवों पर भारी असर दिखता है और उसके उद्‌देश्यों और पाठ्यचर्या पर भी। इन बदलावों और उनसे उभरते कुछ सवालों पर ध्यान देना ज़रूरी है। शिक्षा का निजीकरण कई तरह की बहसों और तीखे विवादों का मुद्‌दा रहा है। समाजशास्त्री कहते हैं कि यह शिक्षा व्यवस्था में सिर्फ सतही बदलाव नहीं है, बल्कि भारतीय समाज में होने वाले एक बहुत बड़े बदलाव का हिस्सा है। हम आगे बढ़ने के लिए जो भी दिशा चुनेंगे उसके नतीजे दूरगामी होंगे।

आदान-प्रदान और मानवीय रिश्ते

इन सब में बुनियादी बात यह है कि हम अपनी आदान-प्रदान की गतिविधियों में किस तरह के रिश्ते अभिव्यक्त कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समय पहले तक भारत के अधिकांश खेतिहर मज़दूर और कारीगर जब किसानों के लिए काम करते थे, तो उन्हें रुपयों की

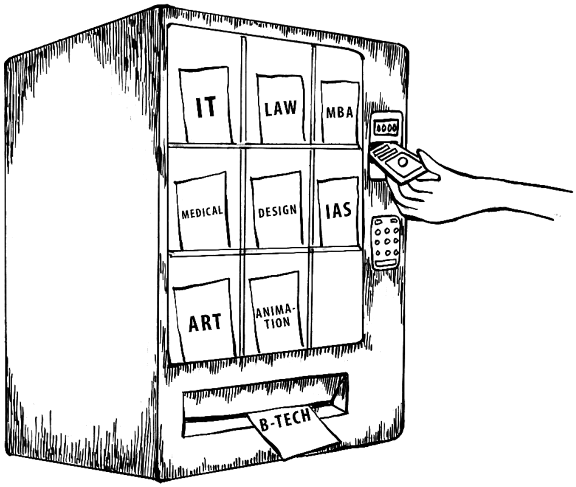

बजाय एक निश्चित मात्रा में अनाज दिया जाता था। जब वे किसान या ज़मींदार के यहाँ जाते थे तो उनके साथ परिवार के सदस्यों जैसा व्यवहार किया जाता था, जैसे कुछ खाने के लिए दे देना वगैरह, बेशक यह जताते हुए कि वे छोटे हैं और उनकी हैसियत किसान या ज़मींदार के बराबर नहीं हैं। मज़दूरों का शोषण और उनके साथ हिंसा आम बात थी, यहाँ तक कि उनका यौन उत्पीड़न भी होता था। लेकिन इन सबके साथ-साथ इस तरह की मान्यताएँ भी थीं कि मज़दूर वफादार सेवक हैं और उनका ध्यान रखना मालिक का नैतिक और धार्मिक कर्तव्य है। इस तरह की व्यवस्था में शिक्षा आमतौर पर थोड़े बड़े किसानों और व्यापारियों को ही मिलती थी और वह काम करने वालों के प्रति इसी तरह का व्यवहार करना सिखाती थी। इस तरह के सम्बन्धों को एक खास तरह का उत्पादन सम्बन्ध (Relation of production) कहा जाता है क्योंकि इन सम्बन्धों से एक खास तरह की उत्पादन व्यवस्था बनती है।

ऐसी व्यवस्था में काम व्यक्तिगत सम्बन्धों के ताने-बाने में किया जाता था, यानी काम अपने परिवार के लिए किया जाता था और अपने मालिक के लिए, जिसके साथ अधीनता का एक पारम्परिक रिश्ता था। यह रिश्ता वैसे ही बना रहता, चाहे मालिक गाली-गलौच और दुर्व्यवहार ही क्यों न करे। इस तरह के उत्पादन सम्बन्ध, जो सांस्कृतिक प्रतीकों के ताने-बाने में गुन्थे हुए थे, अब बदलकर एक ऐसी शक्ल ले चुके हैं जिसमें मुद्रा के रूप में दिया जाने वाला वेतन या मज़दूरी प्राथमिक

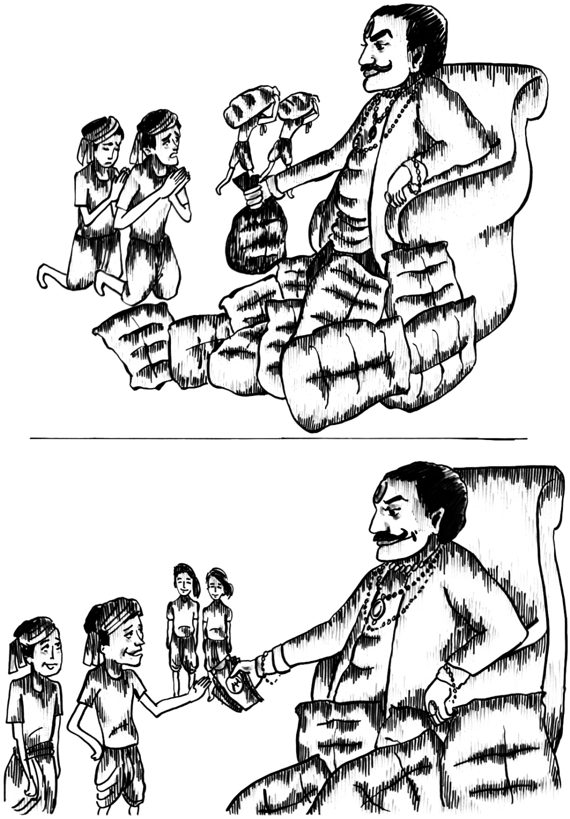

श्रम के सामंती व पूंजीवादी स्वरूप

तत्व होता है। पैसों का इस्तेमाल तो सदियों से होता आ रहा है, मगर शायद पिछली दो शताब्दियों से वह आदान-प्रदान का मुख्य साधन बन गया है। मानवीय सम्बन्ध अभी भी महत्वपूर्ण हैं, मगर बहुत-सी बातों में उनकी जगह मज़दूरों को दी जाने वाले मज़दूरी ने ले ली है।

माल और सेवाओं के निर्माण के, उनके आदान-प्रदान के और उनकी खपत के तौर-तरीकों में ज़बरदस्त परिवर्तन आया है। मानव-वैज्ञानिक और समाजशास्त्री इसे समझने के लिए अक्सर कार्ल पोलान्यी (2001/1944) की भाषा का इस्तेमाल करते हैं। उनके अनुसार विभिन्न समाजों में माल और सेवाओं, जिनमें से शिक्षा भी एक है, के आदान-प्रदान के तीन मुख्य तरीके होते हैं – पारस्परिकता (Mutualism), पुनर्वितरण (Redistribution) और जिंसीकरण (Commodification)। इनके भी कई रूप-रंग हो सकते हैं मगर अभी के लिए इनके बारे में सरल

तरीके से बात करेंगे। हम आगे देखेंगे कि शिक्षा का इन में से हर एक में किस तरह का अलग रूप बनता हैं। शिक्षा को ले कर कई सवाल इस बात पर निर्भर करते हैं कि हम उसे किस तरह के आदान-प्रदान के रूप में देखना चाहते हैं।

जब वस्तुओं और सेवाओं को जिंस या माल या पण्य (Commodity) के रूप में देखा जाता है तो उनका मूल्य पैसों में नापा जाता है और उन्हें बाज़ार के ज़रिए बेचा और खरीदा जा सकता है। बाज़ार वह जगह होती है जहाँ वस्तुओं को आदान-प्रदान करने के लिए ही रखा जाता है और जहाँ उनको बेचने और खरीदने वाले भाव-ताव करने के लिए इकट्ठे होते हैं। आजकल बाज़ारों में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को नापने के लिए मुख्यत: मुद्रा का ही इस्तेमाल किया जाता है, जो वस्तु विनिमय प्रणाली जैसी व्यवस्थाओं में नहीं होता है।

बाज़ार में किसी वस्तु या सेवा के मूल्य निर्धारण पर उस वस्तु या सेवा की माँग व उसकी आपूर्ति का असर पड़ता है। इसी लिए बाज़ार आधारित लेन-देन में पढ़ाने जैसे काम के मूल्य के निर्धारण का आधार यह होगा कि शिक्षकों की मांग और आपूर्ति की क्या स्थिति है। इसमें अलग-अलग तरह की पढ़ाई-लिखाई के मूल्य को नाप कर उसको निश्चित आँकड़ों में दिखाने और फिर उसके मूल्य को रुपयों में निर्धारित करने पर ज़ोर दिया जाएगा। उदाहरण के लिए, जिन शिक्षकों की कोचिंग सेन्टरों में बहुत मांग रहती है वे एक छात्र के लिए 5000 या उससे अधिक रुपए भी ले सकते हैं। उनका रेट इससे तय नहीं होता कि उनके द्वारा दी गई शिक्षा कितनी अच्छी है बल्कि इससे कि उनकी मांग कितनी है और छात्र कितने रुपए देने की क्षमता और तैयारी रखते हैं। इसी तरह किसी 'इन्टरनेशनल स्कूल' के शिक्षक महीने के एक लाख तक कमा सकते हैं। यह इसलिए क्योंकि उस तरह के पाठ्यक्रम की जानकारी रखने वाले शिक्षक कम मिलते हैं और ऐसे स्कूलों के बच्चों के माँ-बाप के पास देने के लिए अधिक पैसे भी होते हैं।

जहाँ आदान-प्रदान पारस्परिकता पर आधारित होता है वहाँ चीज़ों का मूल्य मुख्य रूप से पैसों में नहीं देखा जाता। न ही वहाँ खुले और

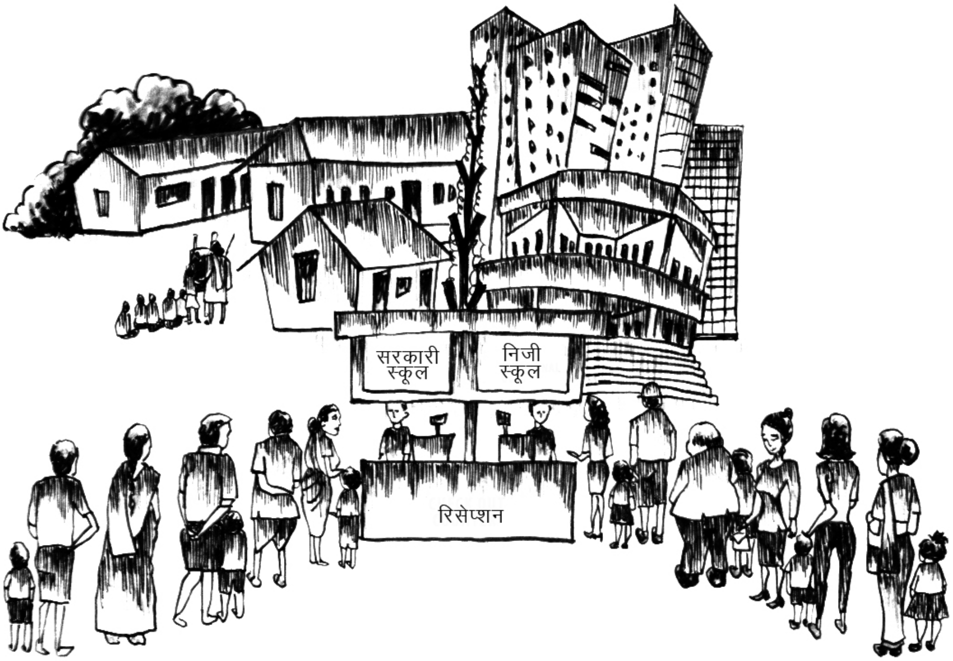

शिक्षा में जिंसीकृत लेन-देन

प्रत्यक्ष रूप से भाव-ताव किया जाता है। जब एक अच्छी बहन या भाई या अच्छा व्यक्ति होने के नाते किसी को कोई भेंट दी जाती है तो जो आदान-प्रदान हो रहा है वह मुख्य रूप से एक सम्बन्ध या रिश्ते का प्रतीक होता है। जब मैं अपनी चचेरी बहन को साड़ी देता हूँ तो वह कुछ रिश्तों को परिपक्व करने के लिए होता है। हाँ, कभी-कभी ऐसे भेंट भी दिए जाते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य कुछ रिश्तेदारों को चिढ़ाना ही होता है। भेंट देते हुए कई बार वापस कुछ भेंट पाने की उम्मीद भी हो सकती है। और वस्तुओं के तुलनात्मक मूल्यों का भी महत्व होता है, लेकिन वह इस तरह के लेन-देन का असल मकसद नहीं होता हैं। यहाँ पर लेन-देन का सांस्कृतिक और पारम्परिक महत्व है। यह ज़रूरी नहीं कि यह सिर्फ रिश्तों के प्रतीक ही हों, इनसे हमारी ज़रूरत की काफी चीज़ें भी मिल सकती हैं। मगर आदान-प्रदान की चीज़ों का सटीक नाप और सटीक भुगतान इस तरह के आदान-प्रदान की संस्कृति से बाहर की बात है। लोग इसे बहुत बुरा मानेंगे अगर हम किसी मित्र को कहें कि अगर आप मेरे 10 प्रतिशत ज़्यादा अच्छे दोस्त बन जाएँगे तो मैं आपको 10 प्रतिशत ज़्यादा अच्छा उपहार दूँगा।

हमारे जीवन में अलग-अलग तरह के लेन-देन की अलग जगह होती है। शिक्षा को अक्सर एक ऐसी प्रक्रिया माना जाता है जो पारस्परिकता और रिश्तों पर आधारित होती है न कि बाज़ार के नाप-तोल पर। भारत के कई हिस्सों में कुछ समय पहले तक ज़्यादातर स्कूलों में ऐसे शिक्षक थे जिन्हें बच्चों को पढ़ाने के लिए किसी रईस द्वारा थोड़े से पैसे मिलते थे। मध्यकालीन भारत में यह आम था। उस राशि को मानदेय के रूप में देखा जाता था, वेतन के रूप में नहीं। बच्चे जो कुछ घर से लाते थे वह शिक्षक के लिए भेंट होती थी, उसके काम की कीमत नहीं। हो सकता है शिक्षक की रोज़ी-रोटी उन्हीं चीज़ों से चलती हो, मगर वह अलग बात थी। यह माना जाता था कि शिक्षक अपना काम सांस्कृतिक कारणों से करते हैं, उस काम से मिलने वाले सम्मान और एक सांस्कृतिक धरोहर को ज़िन्दा रखने के आनन्द के लिए करते हैं। यह दीगर बात है कि ऐसे भी कई शिक्षक होते होंगे जिनका गुज़ारा इसके बिना नहीं हो सकता था।

लोगों तक वस्तुओं और सेवाओं को पहुँचाने का एक दूसरा तरीका है पुनर्वितरण का। यह पैसों के लेन-देन पर आधारित न होकर, राजनैतिक

शिक्षा का उपहार

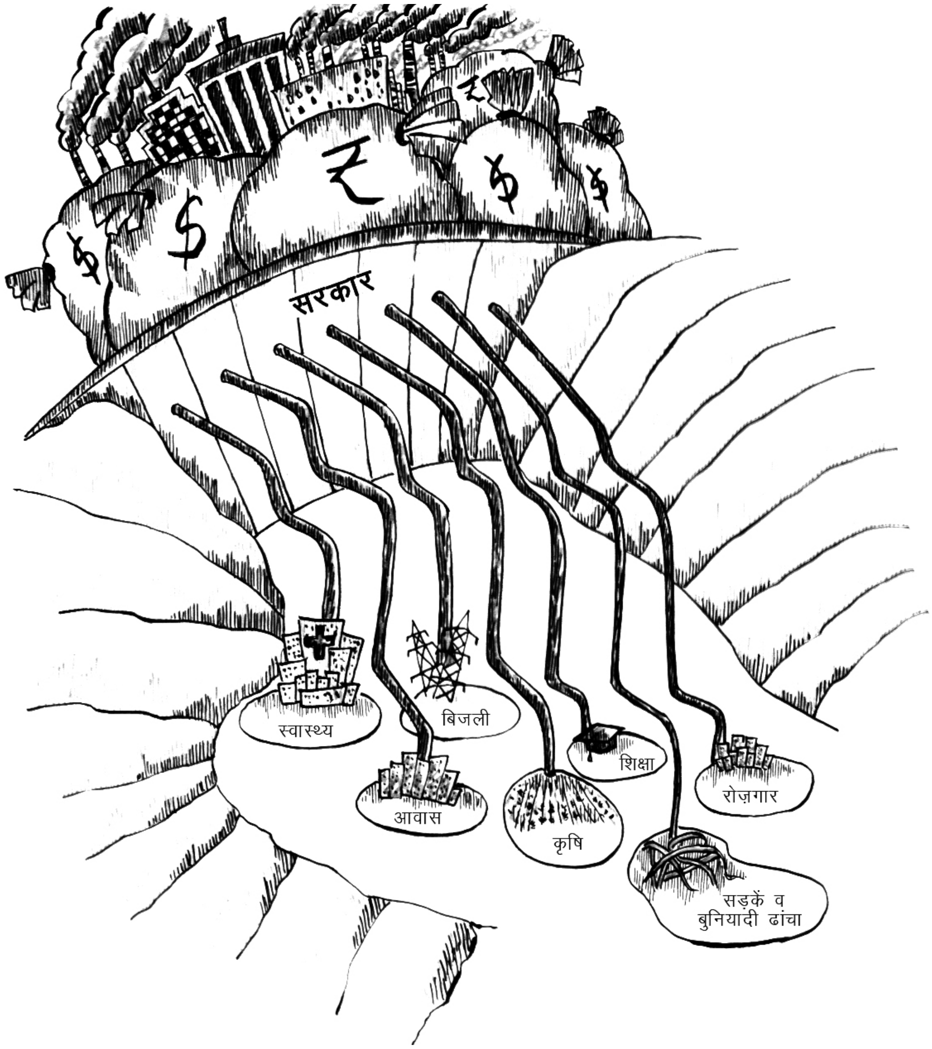

पुनर्वितरण के रूप में शिक्षा

और सांस्कृतिक लेन-देन पर आधारित होता है। एक उदाहरण ऐसे ज़मींदार का हो सकता है जो अपने असामियों से आए अनाज का एक बड़ा हिस्सा पाठशालाओं को दे देता हो। गुरुजी को दिया जाने वाला यह अनाज शिक्षा के रूप में बहुत सारे परिवारों को वापस मिलता था। पुनर्वितरण से ज़मींदार को सम्मान और इज्ज़त मिलती थी और शायद राजनैतिक ताकत भी। उसका एक असर यह भी होता होगा कि शिक्षक ज़मींदार की कारगुजारियों पर सवाल नहीं उठाता होगा।

बाज़ारीकरण से सामाजिक बन्धनों का घुलना

आज के समय में पारस्परिकता, पुनर्वितरण और जिंसीकरण तीनों देखने को मिलते हैं। वह स्थिति जिसमें आदान-प्रदान विशिष्ट सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के अभिन्न हिस्से होते हैं उसे सन्निहितता (Embeddedness) कहते हैं क्योंकि इस तरह के आदान-प्रदान समाज में लोगों को एक-दूसरे से बाँध कर और उनके परिवेश में जोड़कर रखते हैं। मगर आज ज़्यादातर मानव वैज्ञानिक और समाजशास्त्री यह कहेंगे कि धीरे-धीरे बाज़ार और जिंसीकरण का प्रभाव बढ़ता दिख रहा है। कार्ल पोलान्यी ने इसे समाज के अंशों के घुलाव (Disembedding) का नाम दिया था। घुलने से आशय यह है कि पैसों और बाज़ार के ज़रिए लोगों और साधनों को उनके परिवेश से निकाल कर बड़ी आसानी से यहाँ से वहाँ किया जा सकता है।

मुद्रा के इस्तेमाल से आदान-प्रदान में कई फायदे होते हैं। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि मेरे पास एक बढ़िया तरबूज़ है जिसके बदले में मुझे दो लीटर दूध चाहिए। दूसरी तरफ, मेरे दोस्त ज़फर को तरबूज़ चाहिए मगर उसके पास बदले में देने के लिए दूध न होकर गेहूँ है। मगर मुझे गेहूँ नहीं चाहिए, मुझे तो दूध ही चाहिए। पास में रहने वाले सुरेश के पास दूध है मगर उसे मेरे तरबूज़ में कोई रुचि नहीं। उसे गेहूँ चाहिए। हम तीनों फँसे पड़े हैं। पैसों के धीरे-धीरे बढ़ते प्रयोग से हमारी समस्याओं का हल मिल जाता है और हमारे उत्पाद अपनी गोद से आज़ाद हो जाते हैं। हम अपने गेहूँ, तरबूज़ और दूध को एक साझे माध्यम यानी रुपये में बदलकर जो मर्ज़ी ले सकते हैं। लेन-देन ज़्यादा आसानी से होने लगता है। सामाजिक घुलाव के चलते तमाम सम्बन्ध और लेन-देन बन्धनों और रूढ़ियों से आज़ाद हो जाते हैं। इससे कई फायदे होते हैं और शायद कुछ नुकसान भी।

जिन खेतिहर मज़दूरों का ज़िक्र शुरूआत में किया गया था, उनकी तो ज़िन्दगी ही बदल गई है। अब वे ज़्यादातर काम के बदले पैसे लेते हैं, फसल का हिस्सा नहीं। कई जगहों पर मज़दूरों के बाज़ार पनप गए हैं और मज़दूर अब अलग-अलग काम देने वालों से बातचीत व

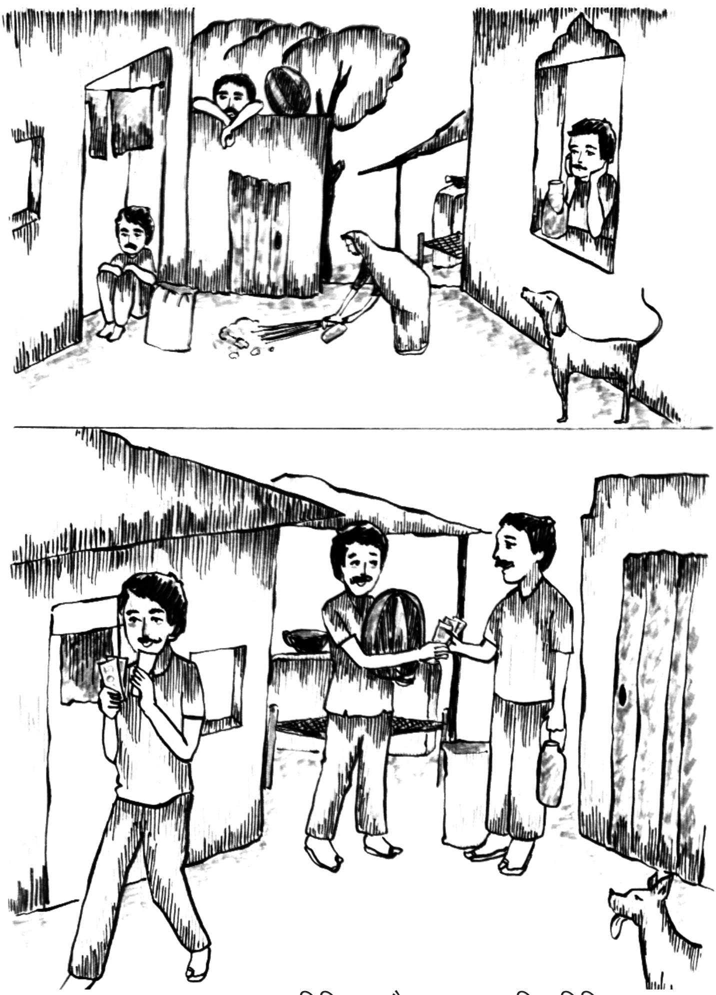

वस्तु-विनिमय और मुद्रा-आधारित विनिमय

भाव-ताव कर सकते हैं। अब उनके पास रोज़गार के विकल्प मौजूद हैं और मालिक व मज़दूर के बीच जो पारम्परिक सम्बन्ध थे वे अब कमज़ोर हो रहे हैं। वह सम्बन्ध अब मुख्य रूप से महज़ वेतन देने के अनुबन्ध तक सीमित हो गया है और उससे बहुत आगे तक नहीं जाता है। जब यह मज़दूर दूसरी जगहों पर रोज़गार ढूँढता है तो उसके शिक्षित होने से बहुत फर्क पड़ जाता है। शिक्षा उन्हें ऐसे सांस्कृतिक मूल्य और तकनीकी कौशल देती है जिनकी ज़रूरत कुछ लोगों को होती है। शिक्षा उन्हें नए रोज़गार के स्रोत ढूँढने में मदद करती है और साथ ही, काम में नए रिश्ते और सम्बन्ध बनाने में भी।

खेतिहर मज़दूर अक्सर अनुसूचित जातियों और जनजातियों से होते हैं। मज़दूरी के बाज़ार के विकास से उनके लिए गाँव से शहर की ओर पलायन करना आसान हो गया है और वे ऐसा करना पसन्द भी करते हैं। इससे उन्हें अपनी पुरानी स्थिति से छुटकारा मिलता है जहाँ उन्हें किसानों के सामने छोटा होकर जीना और काम करना पड़ता था। जैसे कई बार सुनने को मिलता भी है कि लोग गाँव में सर झुकाकर चलने की बजाय शहर में रिक्शा खींचकर गुज़ारा करना पसन्द करते हैं।

ग्राहक में तब्दील होना

मैं दस साल पहले मध्य प्रदेश के एक गाँव में कुछ बड़े लड़कों और नौजवानों से बातें कर रहा था। वे अनुसूचित जाति के थे और हम उनके घरों के पास खड़े थे जो गाँव के बाहरी इलाके में थे। चूंकि हम एक-दूसरे को दो-तीन साल से जानते थे, वे मुझसे घुलमिल गए थे और इसलिए हम वहाँ के सवर्ण लोग जिस शर्मनाक तरीके से उनसे व्यवहार करते थे उसके बारे में बातचीत कर पा रहे थे। उन्होंने मुझे रौंगटे खड़े कर देने वाले किस्से सुनाए कि कैसे जब वे अपने सहपाठियों के घर जाते थे तो उन्हें अन्दर नहीं बुलाया जाता था और चाय या पानी के लिए भी नहीं पूछा जाता था और अगर चाय दी भी जाती तो टूटे हुए प्याले में। उनकी कहानियों से परेशान मेरी नज़र गाँव से गुज़रने वाली सड़क पर गई। वहाँ हमारे सामने एक टैक्सी रुकी। वहाँ टैक्सी का मतलब था एक जीप जो गाँव-गाँव रुककर सवारियाँ लेती थी। इसमें अक्सर लोग एक-दूसरे के ऊपर ठूंस-ठूंसकर बैठे होते थे, सात लोगों की जगह में 12 या 15 तक। हमारे सामने वाली टैक्सी ने दो और सवारियों को जैसे-तैसे अन्दर घुसाया और चल दी। मैंने उन नौजवानों से पूछा, 'इन टैक्सियों में दिक्कत नहीं होती? लोग इनमें कैसे एक-दूसरे से चिपक कर बैठ जाते हैं?'।

उन्होंने मुस्कराते हुए बताया कि कुछ साल पहले जब टैक्सियाँ शुरू ही हुई थीं तो यहाँ हरिजन मुहल्ले में नहीं रुकती थीं। वहाँ गाँव के बीच मन्दिर के सामने ही रुकती थीं। मगर फिर टैक्सियों की सँख्या बढ़ गई और उन्हें सीटों को भरने में दिक्कत आने लगी। तब उन्होंने

यहाँ भी रुकना शुरू किया। अब फिर से टैक्सियाँ खचाखच भरी रहती हैं और अगर किसी को एक अनुसूचित जाति के व्यक्ति के अन्दर आने पर एतराज़ होता है, तो ड्राइवर उसी से कह देता है कि भाई, अगर तुझे ज़्यादा तकलीफ होती है तो तू ही उतर जा। जब मैंने अपने मित्र अरविन्द को यह कहानी सुनाई तो उसने हँसकर कहा, 'देखा, अब ड्राइवर के लिए वे सिर्फ सवारी रह गए थे और कुछ नहीं।' बाज़ारीकरण लोगों के स्वरूप को बदल रहा है और अब कई जगह पर उन के पुराने रिश्ते और समाज में स्थान को भुला कर लोगों को सिर्फ बाज़ार के रिश्तों से देखा जाता है।

बाज़ार का स्वरूप भी बदल रहा है, गाँव और कस्बों के हाट और अनौपचारिक बाज़ारों से अब संगठित और नियमित बाज़ारों में, जो विस्तृत रूप से माल की जानकारी देते हैं और इस बात की गारन्टी देते हैं कि आपको जिस चीज़ का वायदा किया गया है वही दी जा रही है। अनियमित बाज़ार में आपको बहुत एहतियात बरतनी पड़ती थी कि आप क्या ले रहे हो और किससे। दोनों खरीददार और व्यापारी की कोशिश होती थी कि किसी तरह से दूसरे का फायदा उठा लिया जाए। माल की जानकारी ठीक से उपलब्ध नहीं होती थी। लोग यह पसन्द करते थे कि जाने-पहचाने व्यापारी से ही माल खरीदा जाए और दोस्तों व रिश्तेदारों के माध्यम से माल की गुणवत्ता को बनाए रखा जाए। इसकी तुलना में आजकल आप पाएँगे कि बाज़ारों को नियंत्रित किया जाता है। इंटरनेट पर बेचने वाली बड़ी वेबसाइटें सामान की पूरी जानकारी देती हैं और अगर कुछ ऊँच-नीच होती है तो उसे फौरन वापस ले लेती हैं। व्यापार और उत्पादों का मानकीकरण हो रहा है और उसके चलते हमारे काम करने के तरीकों और रिश्तों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ रहा है।

शिक्षा और बाज़ारीकरण

इन सब चीज़ों का शिक्षा प्रणाली पर बड़ा गहरा असर हुआ है। एक-आध शताब्दी पहले तक स्कूल और कॉलेज की शिक्षा की ज़्यादातर सांस्कृतिक भूमिका थी और उन थोड़े से लोगों को छोड़कर जिनके परिवार ज़मीदारों और राजाओं के लिए मुनीमगिरी करते थे या फिर पुजारी या मौलवी इत्यादी बनते थे, उसका मज़दूरी के बाज़ार से बहुत ज़्यादा सम्बन्ध नहीं था। एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया है कि धीरे-धीरे ऐसे लोगों की संख्या बढ़ी है जो आजीविका कमाने के लिए अपना श्रम या कौशल बाज़ार में बेचते हैं। शिक्षा उनके लिए एक महत्वपूर्ण साधन है। आज के समय में शिक्षा से उम्मीद रखी जाती है कि वह लोगों को मज़दूरी के बाज़ार के ज़रिए कोई पद दिलाएगा। यह समाज का घुलाव है जो शिक्षा की भूमिका में बुनियादी परिवर्तन ला रहा है। आज से 50-75 साल पहले बहुत-से लोगों के लिए शिक्षा का

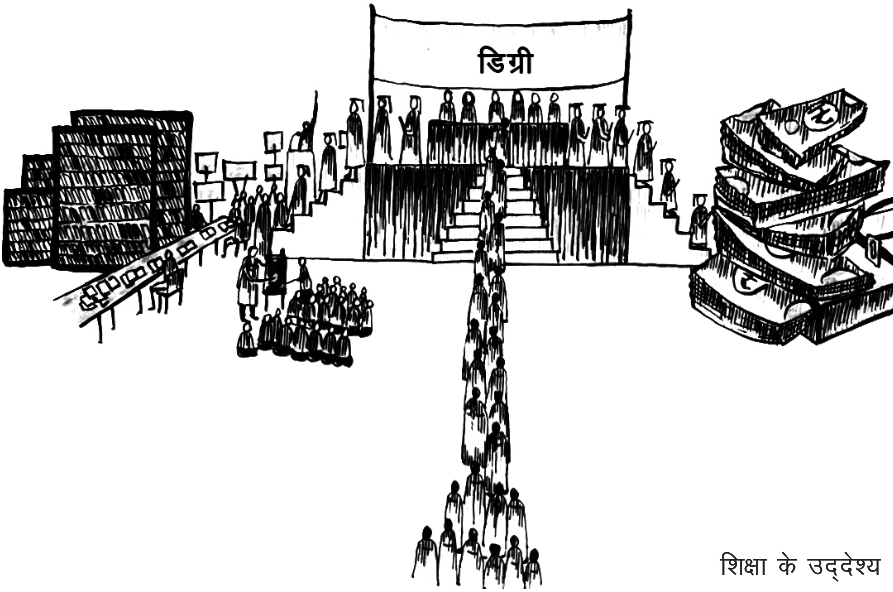

शिक्षा के उद्‌देश्य

मुख्य काम था उच्च संस्कृति सिखाना। उन्हें साहित्य, धार्मिक ग्रन्थ और खगोल-ज्योतिष जैसे विषय पढ़ाए जाते थे, और यह उम्मीद होती थी कि इससे उनकी सोच और व्यवहार में नफासत आएगी। आज शिक्षा के उस नज़रिए को नौकरी दिलाने की चुनौती के साथ जूझना पड़ रहा है। अब एक ऐसी शिक्षा चाहिए जो धन, ओहदा और शक्ति भी दिलवाए। शिक्षा के इस बदलते हुए अर्थ के पीछे समाज का बदलता हुआ ढाँचा है।

समाज के बाज़ारीकरण से जो परिवर्तन आ रहे हैं उनका असर बहुत दूरगामी है और उसके नतीजे मिले-जुले हैं। बाज़ारीकरण और जिंसीकरण से हमारा तात्पर्य है माल और सेवाओं का एक ऐसे रूप में परिवर्तित होना जिनका बाज़ारों और पैसों के ज़रिए आदान-प्रदान किया जा सके। बहुत सारे आदान-प्रदान यह रूप नहीं लेते हैं। उदाहरण के लिए, जिस तरह से एक परिवार अपने सदस्यों के लिए भोजन उपलब्ध कराता है और उसके सदस्य एक-दूसरे को प्रेम और दुलार देते हैं। अगर इन रिश्तों को पैसों में तोलना शुरू कर दिया जाए

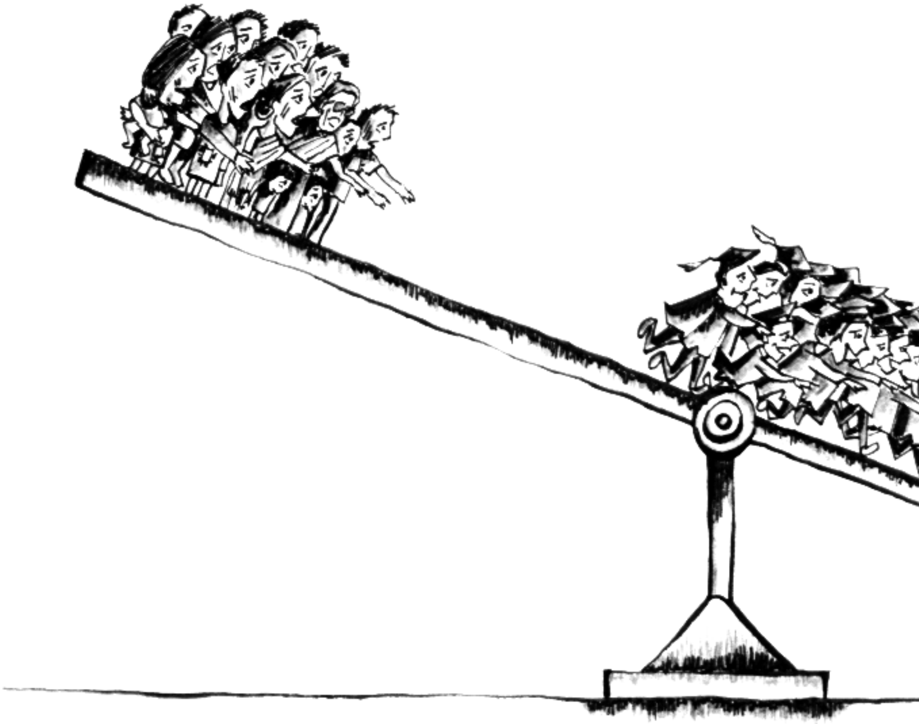

शिक्षा पर बाज़ार का प्रभाव

तो लोग बहुत नाराज़ होंगे। जिंसीकरण का अर्थ है कि समाज में कई ऐसी चीज़ें बाज़ार में उतरती हैं जो पहले बाज़ार में नहीं थीं। कभी यह लोगों को ज़्यादा आज़ादी देता है और कभी उन्हें ऐसी स्थिति में डाल देता है कि वे बाज़ार की प्रक्रियाओं के मोहताज हो जाते हैं और अगर कोई समस्या हो तो वे किसी तरह के सांस्कृतिक सहारे से वंचित हो जाते हैं। इन सब परिवर्तनों का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मसलन, इस पर कि स्कूलों में क्या पढ़ाया जाना चाहिए, स्कूलों को किसकी मदद करनी चाहिए और आखिर शिक्षा का उद्देश्य क्या है।

बाज़ारों की एक खासियत यह होती है कि वे उन लोगों को ज़्यादा ताकत देते हैं जिनके पास पैसा अधिक होता है। एक मायने में लोग बाज़ार में बराबर हैं, मगर दूसरे मायने में लोगों में इस बात से अन्तर

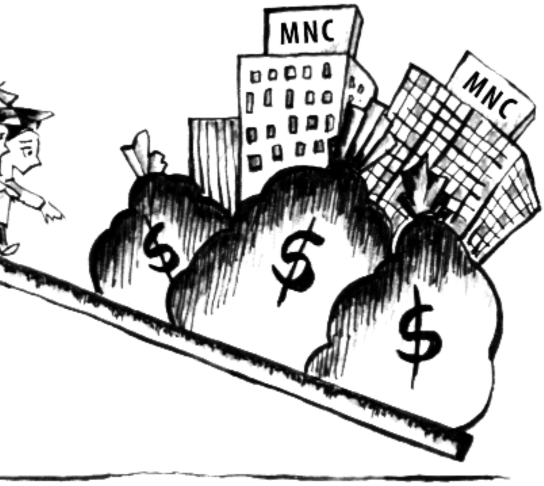

आ जाता है कि कौन बाज़ार को ज़्यादा प्रभावित कर सकता है। जिंसीकरण और बाज़ारीकरण के चलते जो शैक्षणिक सवाल उठते हैं उनमें से एक यह है कि ज़्यादा पैसे वालों का शिक्षा पर किस तरह का अधिकार है। उदाहरण के लिए, शिक्षा के सामने यह सवाल उठता है कि वह उन लोगों की ज़रूरतों को पूरा करेगी जिनके पास ज़्यादा धन है या उनकी जिनके पास कम है। इन दोनों की शैक्षणिक ज़रूरतें काफी अलग हो सकती हैं। हो सकता है कि जिस तरह का ज्ञान अमीर लोग चाहते हैं उसका गरीबों के लिए कोई खास उपयोग न हो। हो सकता है कि बड़ी कंपनियाँ सिर्फ इंजीनियरिंग कॉलेजों के कंप्यूटर सांइस के छात्रों में रुचि रखती हों। लेकिन संभव है कि इस तरह की पढ़ाई गरीब तबकों के लिए उतनी उपयोगी नहीं हो जितनी

सिविल इंजीनियरिंग जिसमें यह सिखाया जाए कि सड़क और पानी की व्यवस्था ज़्यादा अच्छी कैसे बनायी जा सकती है। या हो सकता है कि उनका हित ऐसी इलेक्ट्रॉनिक और मकैनिकल इंजीनियरिंग में हो जिससे छोटे कारखानों और वर्कशॉप में होने वाले उत्पादन में मदद मिले। सबसे ज़्यादा वेतन वाली नौकरियाँ अगर इस तरह के कामों के लिए नहीं हैं तो बाज़ारीकृत व्यवस्था में इनसे सम्बन्धित पढ़ाई कम लोग ही करेंगे।

शिक्षा से जुड़े मसलों में बाज़ारों के दखल से तमाम और समस्याएं भी आ सकती हैं। मिसाल के लिए, गरीब तबकों का हित इसमें नहीं हो सकता कि वह सारी बातें जो अमीर लोग उन्हें पढ़ाना चाहते हैं उनको वे बिना सवाल उठाए या बिना विरोध किए आँख बन्द करके मान लें। हम भारतीयों के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि हम अन्याय और दुराचार के खिलाफ आवाज़ उठाना सीखें और न्याय के लिए

दबाव बनाना सीखें। यह सब ऐसी बातें हैं जिनको कई प्रभावशाली लोग नापसन्द करेंगे। शिक्षा के बाज़ारीकरण से हमारे सामने इस तरह के कई सवाल खड़े हो जाते हैं।

जिंसीकरण के साथ एक और परिवर्तन यह हो रहा है कि शिक्षक एवं बच्चों और उनके माता-पिता के बीच के सम्बन्ध ऐसे बनते जा रहे हैं जैसे एक सेल्समैन और उसके ग्राहकों के बीच होते हैं। स्कूल या कॉलेज एक व्यापारिक संस्था बनती जा रही है और शिक्षक उसमें सेवा प्रदान करने वाले व्यक्ति, ठीक उसी तरह जिस तरह किसी इंश्योरेंस

गरीबी के कारणों की पड़ताल

कंपनी के एजेंट होते हैं। इससे शिक्षक और छात्र के बीच का रिश्ता एक बिलकुल ही अलग रूप ले लेता है। शिक्षक सिर्फ एक ऐसी सेवा दे रहा है जो मैनेजमेंट द्वारा निर्धारित की गई है। ऐसे परिवेश में शिक्षक छात्रों को दुनिया को समझने या उसे एक रचनात्मक ढंग से देखने में मदद करने वाला चिन्तनशील व्यक्ति नहीं रह जाता। यह वह रिश्ता नहीं रहता जहाँ शिक्षक एक बुद्धिजीवी होता है जो बच्चों के साथ पारस्परिकता के आधार पर ज्ञान का आदान-प्रदान कर रहा हो। न ही स्कूल ऐसी जगह रह जाती है जहाँ एक व्यापक अर्थ में अमीर से गरीब के हाथों में धन का पुनर्वितरण होता हो।

इस तरह, बाज़ार कई समस्याओं व टकरावों का समाधान भी देते हैं और कई नए टकराव पैदा भी करते हैं। शिक्षा में बाज़ार के विस्तार से कई सवाल उठते हैं जिन पर बारीकी से अध्ययन करने की ज़रूरत है।

आगे पढ़िए

- ग्रेनोवेटर, मार्क एस और स्वेडबर्ग, रिचार्ड (संपा.), *द सोशियोलॉजी ऑफ इकॉनमिक लाइफ*, बोल्डर, वेस्टव्यू प्रेस, 1992
- पोलान्यी, कार्ल, *द ग्रेट ट्रांसफॉरमेशन*, बॉस्टन, बीकन प्रेस, 2001
- विल्क, रिचार्ड आर, *इकॉनमिक्स एंड कल्चर्सः फाउंडेशन्स ऑफ इकॉनमिक एन्थ्रोपॉलजी*, बोल्डर, वेस्टव्यु प्रेस, 1996

4

पूँजीवाद और शिक्षा: कुछ बुनियादी मुद्दे

यहाँ यह कहा जा रहा है कि माल एवं सेवाओं के जिंसीकृत आदान-प्रदान ने हमारे रोज़मर्रा के रिश्तों और हमारी शिक्षा दोनों को बहुत प्रभावित किया है। शिक्षा जिस तरह का समाज व जैसे मूल्य बनाना चाहती है वह और शिक्षा की अन्दरूनी प्रक्रियाएँ भी इससे प्रभावित हुई हैं। भारत में पूँजीवाद का विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो शिक्षा पर गहरा असर डाल रही है।

पूँजीवाद क्या है

पूँजीवाद शिक्षा के संदर्भ में कुछ बिलकुल ही बुनियादी सवाल खड़े करता है, मसलन, समाज में शिक्षा का क्या उद्देश्य और कार्य होना चाहिए। कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने उन्नीसवीं शताब्दी में पूँजीवाद का मानव जीवन के लिए क्या मतलब है इसकी एक रूपरेखा पेश की थी। मार्क्स के समय में जो बड़ा ऐतिहासिक परिवर्तन हो रहा था वह था सामन्तवादी उत्पादन पद्धति से पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में बदलाव। मोटे तौर पर सामन्तवादी उत्पादन पद्धति वह थी जिसे हम भारत, चीन और पश्चिमी यूरोप में मध्यकाल में देख सकते थे। समाज पर बड़े भू-स्वामियों या ज़मींदारों का वर्चस्व था, जिनको अक्सर अपने राजा या राजनैतिक स्वामी के प्रति वफादारी के चलते ज़मीन मिलती थी। राजा अपने वफादारों को ज़मीन देता था और उसके बदले उनसे सेवा और सम्मान पाता था। राजा को युद्ध के समय फौज और सालाना

लगान भी दिया जाता था। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में कई फर्क थे, मगर उनमें जो बात साझी थी वह थी धीमी गति से चलने वाली कृषि आधारित अर्थव्यवस्था। इसमें शासन का आधार था मालिक और सेवक के बीच प्रभुत्व और आधीनता पर आधारित निजी सम्बन्ध। खेतों पर काम करने वाले अक्सर अपने मालिक को अपने परिवार के बड़ों की तरह समझते थे। "माई-बाप" और "आका" जैसे शब्द इस रिश्ते को दिखलाते थे जो सामन्तवादी दौर में एक मज़दूर और उसके स्वामी के बीच रहता था। मज़दूर मालिक के लिए काम इसलिए करते थे क्योंकि वह मालिक था, इसलिए नहीं कि उनके बीच ऐसा करने का कोई अनुबन्ध या कॉन्ट्रैक्ट था। हिन्दुस्तानी में "नमक हलाल" शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो अपने मालिक के प्रति वफादर हो। इसके पीछे एक सामन्तवादी सांस्कृतिक मान्यता थी कि किसी का नमक खाने वाला व्यक्ति नमक खिलाने वाले का उम्र भर के लिए कर्जदार रहता है। इसी कारण "नमक हराम" शब्द एक गाली था उस व्यक्ति के लिए जो नमक खाने के बावजूद अपने मालिक के प्रति वफादार नहीं हो।

इसके विपरीत, पूँजीवादी उत्पादन पद्वति एक तेज़ गति से चलने वाली अर्थव्यवस्था है, जिसमें पूँजी रुपयों की शक्ल में होती है जो आसानी से हस्तान्तरित की जा सकती है। नए और ज़्यादा फायदेमन्द निवेशों से जल्दी से जल्दी मुनाफा कमाने के लिए एक जगह से दूसरी जगह पूँजी का निवेश करना बेहद आसान होता है। आज के व्यापार जगत में जिन शेयरों में अच्छे मुनाफे की उम्मीद हो उन में देश-विदेश की पूँजी लगा दी जाती है लेकिन अगर वह सम्भावना खत्म हो जाए तो पलक झपकते ही सारा पैसा निकाल लिया जाता है। सामन्तवादी उत्पादन की तुलना में पूँजीवादी उत्पादन में बनने वाले रिश्ते कहीं ज़्यादा आसानी से तोड़े भी जा सकते हैं और बनाए भी। इससे पूँजीपति को निवेश के नए-नए मौके, नई उत्पादन विधियाँ और मज़दूर ढूँढने में आसानी रहती है। सामन्तवादी मज़दूर तो अपने मालिक के लिए मरने तक को भी तैयार हो जाता था, और इस तरह के सम्बन्ध को बनाए रखने के लिए कई कहानियाँ और मिथक गढ़े जाते थे। मगर पूँजीवाद

काम और शक्ति की सामंती संस्कृति

का युग अनुबन्ध और सौदे का युग है, जिसे कभी भी तोड़ा और फिर से बनाया जा सकता है। आर्थिक सत्ता का आधार अब ज़मीन नहीं है, बल्कि मुद्रा के रूप में पूँजी को ज़्यादा से ज़्यादा एकत्रित करने की क्षमता है। जिनके पास ज़्यादा पूँजी है वे बाज़ार को ज़्यादा अच्छी तरह अपनी मुट्ठी में रख सकते हैं और, कम से कम उसूलन, ज़्यादा कुशल तरीके से उत्पाद बना सकते हैं। बात सिर्फ पैसों और उत्पादन की नहीं बल्कि मूल्यों और विचारों की भी है। जहाँ सामन्तवाद में वफादारी सबसे बड़ा गुण था, वहीं पूँजीवाद में कम से कम लागत में अधिक से अधिक उत्पादन की कुशलता और योग्यता महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसे में ज्ञान की प्राथमिकता, महत्व और अर्थ में फर्क आ जाता है। वह ज्ञान महत्वपूर्ण हो जाता है जो बता सके कि किसी काम में कितनी मेहनत लगाई गई है और सबसे कम लागत में अधिक से अधिक फायदा हासिल करने का क्या तरीका हो सकता है। ऐसा नहीं कि इस तरह का ज्ञान पहले नहीं था, मगर अब उसका महत्व बढ़ गया है। जहाँ पहले अशिक्षित वह था जिसे धर्म का और समाज के ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था, अब शिक्षित वह है जो गुणा-भाग कर सकता है। यह एक बहुत बड़ा कारण है कि कंप्यूटर और सूचना तकनीक आज के युग में इतने महत्वपूर्ण क्यों हैं। वे संस्थाओं को अपने भीतर होने वाली प्रक्रियाओं का लगातार आकलन करने की क्षमता देते हैं और यह पता करने में मदद करते हैं कि क्या हो रहा है और किस लागत पर।

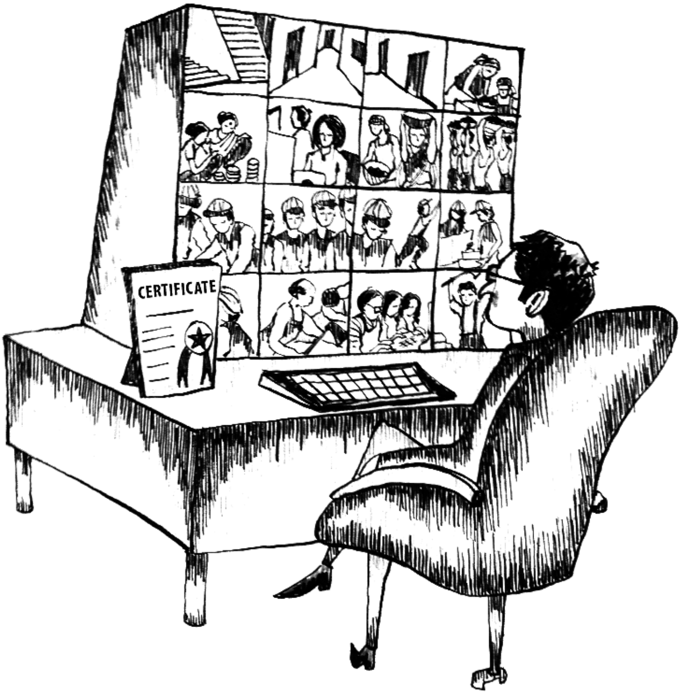

निगरानी का 'कौशल'

सामन्तवाद और पूँजीवाद में एक महत्वपूर्ण फर्क दोनों में बनने वाले उत्पादन सम्बन्धों का है। सामन्तवादी उत्पादन में मज़दूर मालिक के फायदे के लिए उसके प्रति वफादारी और नमक हलाली के संस्कार से प्रेरित होकर काम करता है, चाहे उस संस्कृति का आधार मालिकों द्वारा हिंसा और मारपीट क्यों न हो। पूँजीवाद में मज़दूर मोल-भाव के संस्कार सीखता है और अपने मालिक के फायदे के लिए काम एक सौदे के रूप में करता है, जहाँ वह पैसों के लिए अपनी मज़दूरी बेचता है। इन संस्कारों में प्रतिस्पर्धा महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि मज़दूर को काबू में रखने के लिए यह डर लगातार सामने रखा जाता है कि बाज़ार में कम पैसों पर काम करने के लिए उस जैसे और भी मज़दूर खड़े हैं। पूँजीवाद में कई ऐसी मान्यताएँ सिखाई जाती हैं जो सामन्तवाद में उतनी महत्वपूर्ण नहीं होतीं। जैसे निजी सम्पत्ति की यह अवधारणा कि फैक्ट्री का एक मालिक होता है जो उसका और उसके उत्पादों का अकेला हकदार है और कोई अन्य व्यक्ति इस पर कोई दावा नहीं कर सकता।

पूँजीवादी व्यवस्था का विकास समाज के बिखराव और घुलने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। पूँजीवाद का अर्थ बाज़ार के उन शोषण सम्बन्धों से है जिसके द्वारा ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी संचित की जा सके। ऐसी परिस्थिति में पूँजी घुली हुई, देहमुक्त, विकेन्द्रित होती है। इसी वजह से पूँजीवाद का मानव समाज पर इतना ज़बरदस्त असर होता है क्योंकि वह एक घुले हुए समाज में ऐसे पैमाने पर परिवर्तन ला पाती है जैसे पहले कभी भी नहीं हुए थे। वह हज़ारों लोगों को काम के लिए एक देश से दूसरे देश में ले जा सकती है, वह दुनिया के हर कोने से लोगों और माल को एक जगह ला कर बड़ी-बड़ी इमारतें बना सकती है, वह अनाज और फलों को दुनिया के हर कोने में पहुँचा सकती है।

पूँजीवाद के लिए यह ज़रूरी होता है कि वह लगातार बढ़ता रहे। पूँजी आखिर तभी किसी मतलब की होती है जब वह मुनाफा दे। और उस मुनाफे को फिर से कहीं लगा कर उस पर भी मुनाफा कमाने की ज़रूरत होती है। उसे लगातार नये मौकों की तलाश रहती है। मैं बंगलुरु नाम के शहर में रहता हूँ, जिसकी आज की स्थिति वैश्विक पूँजीवाद के विकास के कारण ही है। करीब तीस-एक साल पहले कुछ अमरीकी और यूरोपीय कंपनियों को यह पता चल गया कि उनके देशों की तुलना में यहाँ पर वे बहुत ही कम कीमत पर सॉफ्टवेयर बनवा सकते थे। इस के कारण ज्यादा मुनाफा कमाया जा सकता था। इन कंपनियों के मुनाफे की तलाश ने कई भारतीय कंपनियों को जन्म दिया जिन्होंने बंगलुरु और ऐसे कई शहरों का चेहरा ही बदल दिया। यहां पर कई तरह की प्रोग्रामिंग और बीपीओ (बिज़नेस प्रोसेस आउटसोर्सिंग) की नौकरियाँ आ गईं। बंगलुरु में बड़े तादाद में डॉलर आये और भारत के कई शैक्षणिक संस्थाओं के युवक-युवकियां यहां नौकरियों के लिये आने लगे। बहुत सारे लोगों के लिये शिक्षा का अर्थ बदल गया और उस में कामयाबी की एक बड़ी छवि बन गई बंगलुरु में आकर यहां की शानदार बिल्डिंगों काम करना और शाम को यहां के पबों और होटलों में घूमना। अगर आप यह सब कर पाते तभी आप "कामयाब" माने जाते थे। दूसरी तरफ अमरीका जैसे देशों में "बैंगलोर"

हो जाने का अर्थ बन गया बेरोज़गार हो जाना, क्योंकि वह नौकरी उड़ कर मेरे शहर में आ गयी थी। जब मैं अमरीका जा कर लोगों से कहता हूँ कि मैं "बैंगलोर" से हूँ, तो कई बार वे मुझसे नज़रें बचाना शुरु कर देते हैं।

पूँजीवाद उन ताकतों में से है जो आज के जटिल समाजों का निर्माण कर रही हैं। पूँजीवाद लाखों लोगों के लिये नये किसम के रोज़गार बनाता है और किसानों व खेतिहर मज़दूरों को शहरों में काम करने वाले दिहाड़ी मज़दूर में बदलता है। ज्यादा मुनाफे की तलाश लगातार नई-नई तकनीक का विकास करती है। इससे नये व्यवसाय और नये सामाजिक वर्ग भी पैदा होते हैं। इस श्रंखला की अगली किताब भारत में बनने वाले नये वर्गों, उनके आपस के संबंधों व तनावों और शिक्षा से उनके संबंधों की पड़ताल करती है। शिक्षा के सामने जो सवाल हैं उनमें से कई पूँजीवाद के विकास और उसके कारण भारत समेत पूरी दुनिया में उभरती वर्ग संरचना के कारण हैं। पूँजीवाद की माँग है कि शिक्षा लोगों को नौकरियों के काबिल बनाए और सामंतवादी समाजों में दी जाने वाली शिक्षा की तरह महज़ संस्कार न दे। पूँजीवाद वर्गों के बीच टकराव भी पैदा करता है और इन टकरावों के बीच शिक्षा को अपने आप से पूछना पड़ेगा कि वह किस की तरफ़ खड़ी है। उदाहरण के लिये, कई लोग कहते हैं कि शिक्षा को अब बाज़ार की तरह चलना चाहिए। मगर कुछ और लोगों का कहना है कि ऐसा करने से सिर्फ अमीर अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दे पाएंगे और गरीब पीछे रह जायेंगे। पूँजीवाद के विकास ने शिक्षा व्यवस्था के सामने गहन सवाल खड़े कर दिये हैं।

मगर यह भी याद रखना चाहिये कि पूँजीवाद वह अकेली ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो भारत की शिक्षा को प्रभावित कर रही है। जनतंत्र का विकास, कई तरह के राजनैतिक और आर्थिक समूहों का उभरना, धार्मिक संगठनों का एकजुट होना, प्रगतिशील बुद्विजीवियों का सक्रिय होना आदि जैसी तमाम प्रक्रियाओं का भी अपना असर हुआ है। जटिल समाज सिर्फ पूँजीवाद से नहीं बनते, उनके बनने में और भी कई

प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं। जटिल समाजों की कई समस्याएँ हैं जिनको समझने कि लिये पूँजीवाद जैसी अवधारणाएं हमारी मदद नहीं कर पाती। मिसाल के लिए, विश्व बंधुत्व कैसे बने, हम एक दूसरे के तौर-तरीकों को स्वीकार करना कैसे सीखें, आदि सवालों के जवाब देना शायद अकेले पूँजीवाद के बस की बात नहीं है। हालांकि कई सामाजिक ज़रूरतों को हम जिस तरह से पूरा करते हैं उनमें पूँजीवाद का असर दिखता है, जैसे कि एक खास तरह के राष्ट्रवाद में बाज़ारीकरण और वैश्वीकरण के असर बड़े साफ दिखाई देते हैं। ऐसा नहीं है कि पूँजीवाद हमारे समाज को पूरी तरह प्रभावित और परिभाषित करता है। कभी जनतांत्रिक और सांस्कृतिक, आदि प्रक्रियाएँ उसके साथ मिल जाती हैं और कभी उसका विरोध भी करती हैं। हो सकता है कि शिक्षक अपनी पहचान पारम्परिक गुरु की छवि से बनाए या हो सकता है कि वह अपने-आपको राष्ट्र की विशाल नौकरशाही का मुलाज़िम ही समझे। या फिर, हो सकता है कि वह अपने-आपको ऐसा व्यक्ति समझे जिसका काम पूँजीवादी रिश्तों के लिए उपयुक्त मज़दूर बनाना है। और यह भी हो सकता है कि शिक्षक अपने-आपको सशक्त व्यक्तियों का निर्माण करने वाला समझे जो धीरे-धीरे पूँजीवाद को तब्दील कर देंगे। शिक्षक खुद के और अपने व्यवसाय के बारे में क्या सोचता है या बच्चे अपने भविष्य के बारे में क्या सोचते हैं, इसमें कई प्रक्रियाओं का हाथ है, हम अभी जिनमें से एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया यानी पूँजीवाद के योगदान को समझने की कोशिश कर रहे हैं।

स्कूल और शिक्षक के काम से आखिरकार जो समाज और

शिक्षा को प्रभावित करने वाले तत्व

राज्य बनेगा संभव है वह पूँजीवादी ही हो। मगर ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। पूँजीवादी राज्य वह है जिसमें समाज और संस्कृति पर ऐसे लोग हावी रहते हैं जो समाज में आम तौर पर रुपयों की शक्ल में बिखरी हुई पूँजी को इकट्ठा करते हैं। यह एक ऐसे समाज से भिन्न है जिसमें राजाओं व ज़ागीरदारों का प्रभुत्व होता है। इस राजा वर्ग की ताकत ज़मीन पर नियंत्रण से आती थी, न कि ज़मीन के व्यापार से। इनमें सत्ता सरपरस्ती और नमक हलाली के रिश्तों पर कायम रहती थी, या फिर तलवार और भालों के ज़ोर से बनी रहती थी। चाहे जो भी हो, ये ऐसे रिश्ते थे जो जल्दी बदलते नहीं थे। पूँजीवाद में ताकत का स्रोत बुनियादी तौर पर वह पूँजी होती है जो बाज़ार के लेन-देन से बनती है। यह पूँजी बहुत जल्दी इधर से उधर हो सकती है। पूँजी के बनने में बाज़ार की जो भूमिका होती है, उसे कुछ लोग निष्पक्ष मानते हैं और जबकि कुछ लोग यह मानते हैं कि ये अंतर्निहित रूप से ज़्यादा पूँजी वालों की तरफ झुकी होती हैं।

पूँजीवाद के युग में शिक्षा

इतना भीषण व व्यापक सामाजिक परिवर्तन कई सवाल पैदा करता है, जिनमें से प्रमुख यह हैं कि अब शिक्षा के उद्देश्य और उसकी विषयवस्तु क्या होना चाहिए। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में ही मार्क्स ने कहा था कि नए दौर की शिक्षा को अपने-आपसे पूछना पड़ेगा कि क्या उसे अब भी सामन्तवादी राजाओं और उनकी शानो-शौकत के बारे में पढ़ाना चाहिए। पूँजीवाद के दौर में शायद यह ज़्यादा ज़रूरी है कि बच्चों को सिखाया जाए कि प्रौद्योगिकी कैसे पुराने सामाजिक रिश्तों को तोड़कर नए रिश्ते बना रही है। उत्पादन की ताकतें किस तरह से तैयार हो रही हैं और किस तरह कंपनियाँ इस नई दुनिया की सबसे ताकतवर संस्थाएँ बन रही हैं। सामन्तवादी समाजों की संस्कृति सामन्ती मालिकों के राज को बनाए रखने में मदद करती थी। मंदिर और मस्जिद राजाओं द्वारा बनाए जाते थे और इससे उनके बड़प्पन और ताकत की छवि मज़बूत होती थी। यहाँ उनके प्रति वफादारी की संस्कृति को बढ़ावा दिया जाता था। आज के दौर

प्रतियोगिता

में स्कूल और कॉलेज का उद्देश्य पूँजीवादी मज़दूरों के बाज़ार के लिए लोगों का उत्पादन करना बनता जा रहा है। अब वे समर्पित और कुशल पेशेवर बनाते हैं जो अपने मैनेजरों का बिना कोई सवाल किए कहना मानने को तैयार हों। योग्यता की अवधारणा से तय होता है कि आज के समय में किसे नौकरी मिलेगी और किसे नहीं। कहा जाता है कि योग्यता के अभाव के कारण ही बेरोज़गारी है, वेतन कम हैं और नौकरियों में अनिश्चितता है। लोग गरीबों को देख कर यह नहीं पूछते कि पूँजीवादी थोड़ा कम मुनाफा लेकर रोज़गार क्यों नहीं बढ़ा देते, वे यह कहते हैं कि गरीब अपनी अयोग्यता के कारण ही ऐसे हैं।

शिक्षा में हम क्या सिखाना चाहते हैं उसे इन परिवर्तनों को सामने रखकर तय करना पड़ेगा। अगला मसला यह भी उठ सकता है कि क्या हमें पूँजीवाद की संस्कृति बिना उस पर कोई सवाल किए सिखानी चाहिए या हमें पूँजीवाद से आगे की चीज़ सिखानी चाहिए, ऐसे संस्कार जो पूँजीवाद की समस्याओं को भी हल कर सकें। उदाहरण के लिए, क्या प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना चाहिए, जो पूँजीवाद में मज़दूर की

ज़िन्दगी का अभिन्न हिस्सा है। या क्या हमें आपसी सहयोग को बढ़ावा देना चाहिए, जो जटिल समाजों को बनाए रखने के लिए और ज़्यादा महत्वपूर्ण होता जा रहा है, विशेष रूप से नई अति-आधुनिक उत्पादन प्रक्रियाओं में। पूँजीवाद द्वारा पैदा किए शोषण को खत्म करने के लिए भी सहयोग की भावना बहुत ज़रूरी है। किन मूल्यों को बढ़ावा दें? प्रतिस्पर्धा के या सहयोग के? शिक्षा के लिए ऐसे विकल्पों को समझने में समाजशास्त्री मदद करते हैं। बच्चे और बड़े अपने-आप सहयोग या प्रतिस्पर्धा नहीं सीखते। वे इन्हें स्कूलों और अपने समाज से सीखते हैं। भारतीय शिक्षा को इनमें से किसे प्राथमिकता देनी चाहिए?

सहयोग

आज के दौर के कई धर्मसंकट सामन्तवाद से पूँजीवाद की दिशा में हो रहे परिवर्तनों की उपज हैं। एक ज़माना था जब हमें सिखाया जाता था कि ज्ञान से प्रेम करना चाहिए और जहाँ सरस्वती रहती है वहाँ लक्ष्मी नहीं रह सकती। शास्त्रों से, शायरी से, साहित्य से इसलिए प्यार किया जाता था क्योंकि वे हमें अच्छे संस्कार सिखाते थे। अक्सर यह भी होता था कि वे संस्कार सामन्तवादी समाज को बनाए रखने के लिए उपयुक्त भी होते थे। यह कोई संयोग की बात नहीं थी कि जो मर्यादा पुरुषोत्तम था वह भूमि का राजा भी था। मगर पूँजीवाद के युग में ज्ञान फायदे के लिए प्राप्त किया जाता है, उन पुराने संस्कारों के लिए नहीं। अब नए संस्कार और नया ज्ञान सिखाया जाता है जिसमें एमबीए और पूँजीपति मर्यादा पुरुषोत्तम हैं जो आज के समाज में कैसे रहना चाहिए उस धर्म के प्रतीक बन गए हैं।

पूँजीवादी उत्पादन शैली को समझना शिक्षाविदों के लिए महत्वपूर्ण काम है विशेष रूप से जब उसको इस सवाल से जोड़ा जाए कि किस तरह की उत्पादन शैली इन्सान की आज़ादी के लिए सबसे ज़्यादा मददगार होगी। अगर शिक्षा से हमारा मतलब है इन्सानों को उनके बन्धनों से आज़ाद करना और उन्हें एक ज़्यादा सक्षम और सम्पूर्ण जीवन जीने के मौके उपलब्ध कराना, तो हमें यह पूछना पड़ेगा कि पूँजीवाद में क्या समस्याएँ और अन्तर्विरोध हैं और उनको कैसे हल किया सकता है।

सामाजिक टकराव और परिवर्तन

कई सामाजिक दार्शनिकों का मानना है कि दुनिया में सिर्फ परिवर्तन ही शाश्वत है और आज जो भी है वह सब कुछ बदल जाएगा। मार्क्स का बहुत मशहूर कथन है कि समाज को बदलने वाले बीज हर समाज के भीतर ही होते हैं। एक उत्पादन शैली से दूसरे उत्पादन शैली में परिवर्तन एक धीमी प्रक्रिया है, जिसमें बहुत अधिक समय लगता है और कई तकलीफों का सामना करना पड़ता है। यह प्रक्रिया कई सौ साल लम्बी भी हो सकती है। हर समाज में कई अन्तर्विरोध या टकराव होते हैं। वे सदियों तक सुलगते रह सकते हैं, मगर आखिरकार उनमें से

कुछ अन्तर्विरोध सामाजिक ताकतों का एक ऐसा ध्रुवीकरण पैदा कर सकते हैं जो समाज के ढाँचे को बदलकर एक नया ढाँचा बना देता है।

मार्क्स का कहना था कि सामन्तवादी समाजों में यह अन्तर्विरोध एक तरफ राजाओं, सामन्तों और दूसरी तरफ व्यापारियों और साहूकारों के बीच था। सामन्तवादी समाज धीमी गति से चलते थे और उनमें साधनों पर कब्ज़ा सामन्ती कुलीन वर्ग का रहता था। वे धन-सम्पत्ति का इस्तेमाल अपने ऐशो-आराम और राजनैतिक दिखावेबाज़ी के लिए करते थे। इनके विपरीत व्यापारी वर्ग और जो लोग व्यावसायिक गतिविधियों में लगे हुए थे उनका पैसों के प्रति अलग रवैया था। उनको दिखता था कि उनका भविष्य उनकी धन-सम्पत्ति पर टिका था न कि राजनीति या शानो-शौकत पर। पूँजी का इस्तेमाल अपनी ऊँची हैसियत दिखाने के लिए नहीं बल्कि अधिक मुनाफा कमाने के लिए होता था। यह मुनाफा फिर और मुनाफा कमाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। पैसों को बड़े ध्यान से खर्च किया जाता था और एक सादी, अनुशासित ज़िन्दगी में ही पूँजी और पूँजीपति दोनों का भला था। साधनों के प्रति इस रवैए के चलते पूँजीवाद ने उत्पादकता बढ़ाने पर लगातार ज़ोर दिया। उत्पादन के तरीकों और साधनों में सुधार होता गया और लागत से निकलने वाले मुनाफे में भी। पहले उत्पादन जानवरों और इन्सानों की ताकत से होता था, फिर मशीनीकरण हुआ और तेल एवं बिजली का इस्तेमाल होना शुरू हो गया। जहाँ भूमि और पशु से उत्पादन होता था, अब मशीनों और कारखानों से होता है। उत्पादन के रिश्ते धीरे-धीरे बदल रहे हैं और अब निजी सम्पत्ति की विचारधारा की ज़्यादा मान्यता है और यह विचार फैल गया है कि हमें पैसों के लिए काम करना चाहिए न कि मालिक की सेवा के लिए।

इसमें कोई हैरानी वाली बात नहीं होगी अगर पूँजीवाद में भी उसी को तब्दील करने वाले बीज हों, जो आखिरकार उसे भी बदलकर एक बिलकुल नई उत्पादन व्यवस्था बना दें। उस नई दिशा के लिए उपयोगी होगा कि हम पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों की पड़ताल करें।

एक नई वर्ग व्यवस्था उभर रही है और बड़े कॉरपोरेशनों पर नियंत्रण रखने वाले लोग इस देश में सब से ताकतवर वर्ग बन रहे हैं। कॉरपोरेशनों के शेयरों का नियंत्रण करने वाले, बोर्ड ऑफ गवर्नर, वरिष्ठ मैनेजर, इत्यादी, राज्यों और केन्द्र की सरकारों पर अपनी पकड़ मज़बूत किए जा रहे हैं। बड़े जमीनदारों का सरकार पर दबदबा कम हो गया है और ट्रेड यूनियनों का भी। शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप अर्थव्यवस्था के लिये वेतनभोगी मज़दूर बनाने वाली संस्था में बदल रहा है। उधर पढ़ा-लिखा वेतन मज़दूर कई नये विचार सीख रहा है और उसे उत्पादकता बढ़ाने के लिये आपसी सहयोग के साथ काम करना भी आ गया है। इनमें एक छोटा हिस्सा है जो मैनेजर बन कर बाकी मज़दूरों को मालिक के हितों की भरपाई के लिये नियंत्रित करता है। लेकिन यह भी है कि यह पढ़ा-लिखा वर्ग जो पक्की नौकरियों में है अभी भी भारत में अल्पसंख्यक ही है। भारत में दूसरे वर्गों की विशाल संख्या है, जैसे कि, किसान, कारीगर, पशु-पालक इत्यादी। इनकी ज़िन्दगी में शिक्षा व्यवस्था की भूमिका उन्हे फेल कर के बाहर कर देने से बहुत ज्यादा नहीं है।

भारत की वर्ग व्यवस्था और उसका शिक्षा से संबंध इस श्रंखला की अगली किताब का विषय है। यहां पर सिर्फ यह व्यापक सवाल उठाया जा रहा है कि यह समाज किस तरह बदल रहा है और वह किस तरफ जा सकता है? इन का जवाब ढूँढने में यह पूछना बड़ा उपयोगी होगा कि यहाँ पूँजीवाद के कारण किस तरह के विरोधाभास और टकराव पैदा हो रहे हैं। विरोधाभास और टकराव (कॉनफ्लिक्ट) पर आधारित यह नज़रिया समाज को देखने के प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) नज़रिए से काफी अलग है। एक प्रकार्यवादी की रूचि इसमें होती है कि समाज को स्थिर कैसे बनाया जाए। मगर टकराव के सिद्धान्तकार समाज की परिवर्तनशीलता और उसकी बुनियाद में मौजूद द्वन्द्व और विरोधाभास में ज़्यादा दिलचस्पी रखते है।

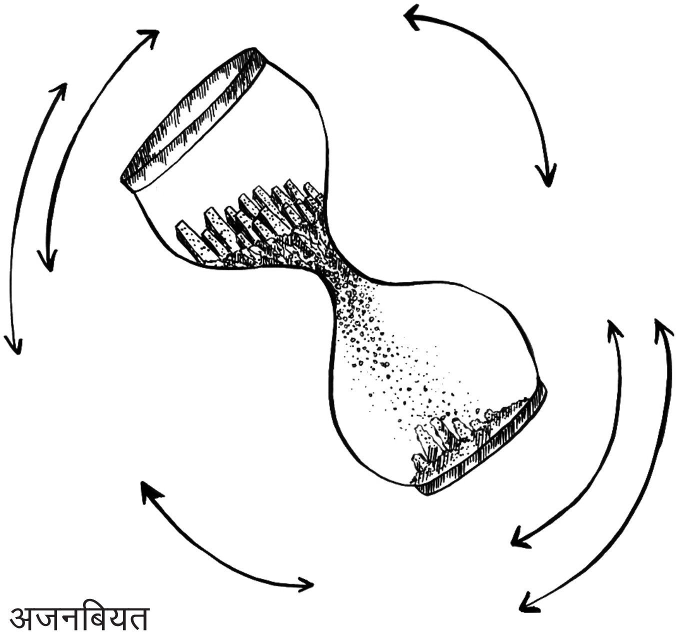

द्वन्द्व

अजनबियत

पूँजीवाद में एक महत्वपूर्ण अन्तर्विरोध उसमें पैदा होने वाली अजनबियत की भावना है, जो अपने काम से सन्तुष्टि या उसका फल न मिलने से बनती है। अपने खेत में काम करने वाले किसान को महीनों की कड़ी मेहनत के बाद जब अपने खेत में लहलहाती फसल देखने को मिलती है तब उसे एक ऐसा आनन्द मिलता है जिसे शब्दों में बयान करना मुश्किल है। लेकिन जो व्यक्ति एक सॉफ्टवेयर कम्पनी की बड़ी टीम में काम करता है, वह सिर्फ एक विशाल प्रोग्राम के छोटे-से टुकड़े को बनाता है। अक्सर उसको सिर्फ यह निर्देश दिया जाता है कि दिए गए आँकड़ों को किसी खास ढंग से तब्दील कर दो। ऐसा क्यों करना है या फिर इसका किसी के जीवन से क्या लेना-देना है, ऐसी बातों से महज़ खर्चे बढ़ते हैं और मुनाफा घटता है। अपने काम में आनन्द न मिल पाना पूँजीवाद में असन्तुष्टि और तनाव का एक बड़ा कारण है।

अजनबियत स्कूलों और कंपनियों में रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का हिस्सा बन गया है। एक ऐसे छात्र के लिए अजनबियत का एहसास जाना-पहचाना हो सकता है जो खुद को कक्षा में पढ़ाई जा रही बातों से नहीं जोड़ पाता क्योंकि शिक्षक पाठ्यक्रम पूरा करने की हड़बड़ी में

हैं जिसके चलते विषय पर खुलकर बात करना उनके लिए सम्भव ही नहीं। शिक्षक के लिए हरेक छात्र को साथ लेकर चलने की कीमत बहुत ज़्यादा है। वह भी हर रोज़ अपने कामकाज में अजनबियत के एहसास से गुज़रता है। जब किसी समाज और उसके स्कूल के लिए कम से कम कीमत पर ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन ही मुख्य मूल्य बन जाता है, तब उसके लिए अजनबियत चिन्ता का सबब नहीं रह जाता। या यह भी कह सकते हैं कि व्यवस्था में जो सत्ताधारी लोग हैं कम से कम उनको इसकी कोई खास चिन्ता नहीं सताती।

आज के दौर में कुछ कंपनियाँ अजनबियत से पहुँचने वाले नुकसान को समझने लगी हैं और वे अपना मुनाफा भी कम करने को तैयार हैं ताकि काम करने के तरीके बदले जा सकें जिससे लोगों को अपने काम में सार्थकता का एहसास हो। इसी तरह शिक्षक भी यह कोशिश कर रहे हैं कि पाठ्यक्रम को जल्दी-जल्दी पूरा करने की बजाय, उसे ऐसे तरीके से पढ़ाया जाए जो ज़्यादा से ज़्यादा रुचि और समझ पर आधारित हो।

काम से पैदा होने वाली अजनबियत को कम करने का एक और तरीका है। कई लोग सार्थकता की तलाश मौज-मस्ती और उपभोक्तावाद में

अलगाव

भी करते हैं। क्योंकि पूरा हफ्ता तनाव और अजनबियत से भरा बीतता है, छुट्टी के दिन उसका हिसाब बराबर किया जाता है। उपभोग की वस्तुओं से लोगों को कई तरह के एहसास और अर्थ मिलते हैं जिनकी उन्हें तलाश रहती है। इश्तेहार और मार्केटिंग कंपनियाँ वस्तुओं के साथ ऐसे-ऐसे आकर्षक बिम्ब जोड़ती हैं जिनसे लोग आम तौर पर प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। नई-नई चीज़ों को खरीद कर व्यक्ति को वह आनन्द मिलता है जो उसे अपने काम से नसीब नहीं होता। मगर अभी यह कहना मुश्किल है कि इससे समस्या हल हो जाती है या सिर्फ कुछ देर के लिए ढँक जाती है। दिक्कत यह है कि कभी न कभी लोग यह फिर पूछते हैं कि क्या नए मोबाइल या नए कपड़े खरीदना ही ज़िन्दगी के अर्थ के लिए काफी है। नई चीज़ लेने का नशा थोड़े ही दिनों में उतर जाता है। उसके बाद फिर यही रास्ता दिखता है कि कुछ और नया खरीदा जाए। इससे एक व्यापक उपभोक्तावाद की संस्कृति सारी दुनिया में उभर गई है जिसने हमारे पर्यावरण की समस्याओं को और ज़्यादा गम्भीर बना दिया है। और फिर भी लोगों को एक तरह के खालीपन का एहसास लगातार सताए जा रहा है जिसे वे धर्म, सैर-सपाटे और कई अन्य विकल्पों से भरने की कोशिश करते हैं।

शोषण

पूँजीवाद में एक सामाजिक रिश्ता निहित है जिसे 'शोषण' कहते हैं और यह काफी तनाव पैदा करता है। अगर आप ध्यान से देखें तो पूँजीवाद में पूँजीपति का मुनाफा मज़दूरों के शोषण से ही आता है। एक उदाहरण से स्पष्ट होगा कि यहाँ शोषण से क्या मतलब है।

मान लीजिए कि एक फैक्ट्री का मालिक मोबाइल फोन बनाने के लिए एक इंजीनियर रखता है। जब मोबाइल फोन तैयार हो जाता है वह 5000 रूपए में बिकता है। उसमें से इंजीनियर का कितना योगदान है और उसे वेतन के रूप में कितना हिस्सा देना चाहिए? इंजीनियर को उसकी तनख्वाह देने के बाद अन्य खर्चे जैसे किराया, बिजली, पुर्जे इत्यादि निकालने के बाद जो बचता है वह है मालिक का मुनाफा। पूँजीवाद की समस्या यह है कि इंजीनियर को जो तनख्वाह दी जाती

है उसका सीधा सम्बन्ध उस मोबाइल के निर्माण में उसके योगदान से नहीं बल्कि बाज़ार में उस जैसे इंजीनियरों की आपूर्ति और उनकी माँग से होता है। अगर माँग से ज़्यादा इंजीनियर उपलब्ध हैं तो वे कम तनख्वाह पर भी काम करने को तैयार हो जाते हैं। या अगर थोड़े से ही इंजीनियर हैं जो मोबाइल बना सकते हैं तो वे ज़्यादा तनख्वाह मांग सकते हैं। अगर दूसरा उदाहरण लें तो उस व्यक्ति का क्या योगदान है जो उस मोबाइल फोन के सभी पुर्ज़ों को जोड़कर मोबाइल केस में बन्द करता है। उसे मिलने वाली तनख्वाह का आधार मोबाइल बनाने में उसका योगदान नहीं है बल्कि यह है कि उस समाज में दसवीं पास और दो-एक साल के प्रशिक्षण से लैस लोगों की आपूर्ति कितनी है। यानी इस काम को करने में सक्षम कितने लोग मोबाइल कंपनी के मालिक के पास नौकरी के लिए आवेदन देते हैं। उचित वेतन तब तक नहीं मिल सकता जब तक वेतन के मोल-भाव में सत्ता और ताकत की भूमिका बनी रहेगी। अगर बाज़ार उचित वेतन देता तो वह न्यायपूर्ण होता। मगर हम अपने आसपास जो देखते हैं उसमें ऐसा नहीं दिखता। पूँजीवाद की यही विशेषता है कि इसमें वेतन शोषण और बाज़ार के छल से तय होता है।

शोषण की अवधारणा यही है कि व्यक्ति को मजबूर होकर वाजिब स्तर से कम वेतन भी स्वीकार करना पड़ता है। मालिक आमतौर पर भाव-ताव करने की ज़्यादा मज़बूत स्थिति में होता है और वह वेतन को उस न्यूनतम स्तर पर खींच कर ले जा सकता है जो बाज़ार में उस समय की मांग और पूर्ति की स्थिति के अनुसार सम्भव है। अप्रशिक्षित काम के लिए यह अक्सर दो वक्त की रोटी से ज़्यादा ऊपर नहीं होता, जिससे व्यक्ति किसी तरह जीवित रह सके और अगले दिन फिर काम पर आ सके। मालिक और मज़दूर के बीच का विरोधाभास निजी स्कूलों में स्पष्ट देखा जा सकता है। जो कमाई फीस से होती है उसे स्टाफ के वेतन, बिल्डिंग के रखरखाव, नये कमरे बनवाने, इत्यादी और मालिक के मुनाफे के बीच बाँटना पड़ता है। मालिक के पास ही ताकत होती है कि तय करे इन पैसों का बटवारा कैसे होना चाहिये। यह एक बड़ा

शोषण

कारण है कि निजी स्कूलों के शिक्षकों का वेतन इतना कम क्यों होता है। मालिक की कोशिश रहती है कि ज्यादा से ज्यादा पैसा वह अपने पास रखे या फिर ऐसे निवेश पर खर्च करे जिस से अधिक अभिभावक आकर्षित हों, जैसे बड़े ऑडिटोरियम बनाना। शिक्षकों का वेतन बढ़ाना मैनेजमेंट के खर्चों की सूची में सब से आखिर में होता है। शिक्षक ही हैं जो स्कूल को चलाते हैं मगर उस योगदान की तुलना में उनको दिये जाने वाले रुपए अकसर कम होते हैं।

शोषण से सामाजिक रिश्तों में विरोधाभास उत्पन्न होता है। जो शोषित होता है वह भी व्यवस्था पर कई तरीकों से दबाव डालने की कोशिश करता है। बाज़ार में मालिक की ताकत से बराबरी करने का एक तरीका है सामूहिक सौदेबाजी करना, ताकि कामगारों का वेतन एक-एक करके न तोड़ा जाए। अगर मजदूर व्यक्तिगत तौर पर मालिक या मैनेजर से काम की ज़्यादा बेहतर परिस्थितियां और वेतन की बात करता है तो वह उनके सामने बहुत कमज़ोर पड़ता है। मगर कई सदियों से हम देखते आ रहे हैं कि इसका हल मज़दूर और शिक्षक एकता बना कर ढूँढते हैं। जब वे एक समूह के रूप में बात करते हैं तो

उनकी ताकत बहुत बढ़ जाती है और उन्हें उतनी आसानी से डराया या धमकाया नहीं जा सकता। सामूहिक सैदेबाज़ी एक ऐसी प्रक्रिया है जिसने पूँजीवाद की शक्ल को पिछली दो शताब्दियों में काफी प्रभावित किया है। कुछ जागरूक मालिक मुनाफे और नीतियों में हिस्सेदारी देकर कामगारों के मन में शोषण के एहसास को खत्म कर रहे हैं। मगर कई औद्योगिक क्षेत्रों में लगातार हड़ताल और दोनों तरफ से होने वाली हिंसा से पता चलता है कि पूँजीवाद का यह अन्तर्विरोध अभी तक सुलझा नहीं है और हो सकता है कि यह हमारे काम करने के तरीकों में आगे जा कर बुनियादी परिवर्तन लाए।

पूँजीवाद के बदलते रूप

पूँजीवाद के अन्तर्विरोध उसे धीरे-धीरे बदल रहे हैं। पूँजीवाद कोई शाश्वत या जमी हुई व्यवस्था नहीं है। वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया से पनपा है और अलग-अलग दौरों में उसका अलग-अलग स्वरूप रहा है। ऐसा ही एक रूप था वाणिज्यिक (Mercantile) पूँजीवाद का जिसमें व्यापार द्वारा मुनाफा बनाने पर ज़ोर दिया जाता था, जैसे कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के दौर में था। उसने फ्रांसीसियों और पुर्तगालियों को इसलिए भारत से बाहर रखने की कोशिश की थी ताकि वे यहाँ आकर भारतीय व्यापारियों को ज़्यादा कीमत देकर बाज़ार पर कंपनी की पकड़ को कमज़ोर न करें। फिर बाद में उसने भारत में औद्योगिक निर्माण को इसलिए दबाए रखा ताकि वह अंग्रेज़ी उद्योगों के लिए एक बाज़ार बना रहे।

पूँजीवाद का एक दूसरा चेहरा दिखता है बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में जब कारखानों में बड़े पैमाने पर उत्पादन (Mass production) आम होने लगा। अब हमारे सामने पूँजीवाद का वैश्विक दौर है जिसमें निर्माण विकसित देशों से निकल कर कुछ विकासशील देशों में जा रहा है। और भारत व ऐसे अन्य देशों में मुनाफा बनाने के तरीकों में निर्माण की जगह अब फिर से व्यापार और सेवाएँ हावी हो रही हैं।

शोषण अभी भी पूँजीवाद का अभिन्न अंग है। मगर पूँजीवाद को इतने सालों में अपना चरित्र भी बदलना पड़ा है। कई ताकतों ने उसका

विरोध किया है, जैसे, मज़दूरों के संगठनों ने, धार्मिक विचारधाराओं ने, पर्यावरण पर काम करने वाले समूहों ने। इसका एक असर, मिसाल के लिए, यह हुआ है कि अमरीका में दूसरे विश्व युद्ध के बाद मालिक अपने मुनाफे का ज़्यादा हिस्सा मज़दूरों के साथ बाँटने लगे, जो 1980 के दशक तक चला। इससे वहाँ ऐसी परिस्थिति पैदा हुई कि बिजली का काम करने वाले मिस्त्री और वैल्डर जैसे अर्ध-कुशल कारीगर भी एक मकान खरीद सकते थे और कार चला सकते थे। इससे एक बहुत ही अलग तरह का सामाजिक-आर्थिक ढाँचा हमें सोवियत रूस, चीन और क्यूबा जैसे देशों में दिखता है। आजकल भी कई तरह के नए विकल्प सुझाए जा रहे हैं, मिसाल के लिए, सहजीविता (Mutualism) की विचारधारा ऐसा ही एक विकल्प है। पूँजीवाद ने बीसवीं शताब्दी में श्रमिकों के साथ कई तरह के समझौते किए और उन्हें बेरोज़गारी भत्ता और बढ़ी हुई तनख्वाहें दीं। पश्चिमी यूरोप और कनाडा में समाजवादी और सामाजिक-जनतांत्रिक सरकारों ने कल्याणकारी राज्य (Welfare state) बनाए जिन्होंने गरीबों की घर और चिकित्सा की ज़रूरतों को पूरा किया। इन मुल्कों में अगर हम आजकल सभी बच्चों को अच्छे स्कूलों में जाते देखते हैं तो यह पूँजीवाद के साथ-साथ इन राजनैतिक प्रक्रियाओं के कारण ही सम्भव हुआ है। इन देशों में बड़ी कम्पनियों ने ज़्यादा कर देना स्वीकार किया जिससे गरीबों के लिए स्कूल और शिक्षक उपलब्ध हो पाए। वहाँ ज़्यादातर लोग सरकारी स्कूलों में ही जाते हैं और ये स्कूल काफी अच्छे चलते हैं। आज की शिक्षा प्रणाली बनी ही इन समझौतों से है, जिसमें पूँजीवाद, सरकार और कई वर्ग तथा समूहों ने आपस में करार किया। जब हम आजकल भारत में सबके लिए शिक्षा की माँग सुनते हैं तो यह ध्यान रखना चाहिए कि यह तभी हो सकता है जब पूँजीवाद में मुनाफा बढ़ाने की प्रवृत्ति पर अंकुश रखा जाए।

भारत में सरकार, पूँजीवाद और शिक्षा

बाकी दुनिया की तरह भारत में भी पिछली शताब्दी से यह माना गया है कि पूँजीवाद पर नियंत्रण रखना आवश्यक है और उसे

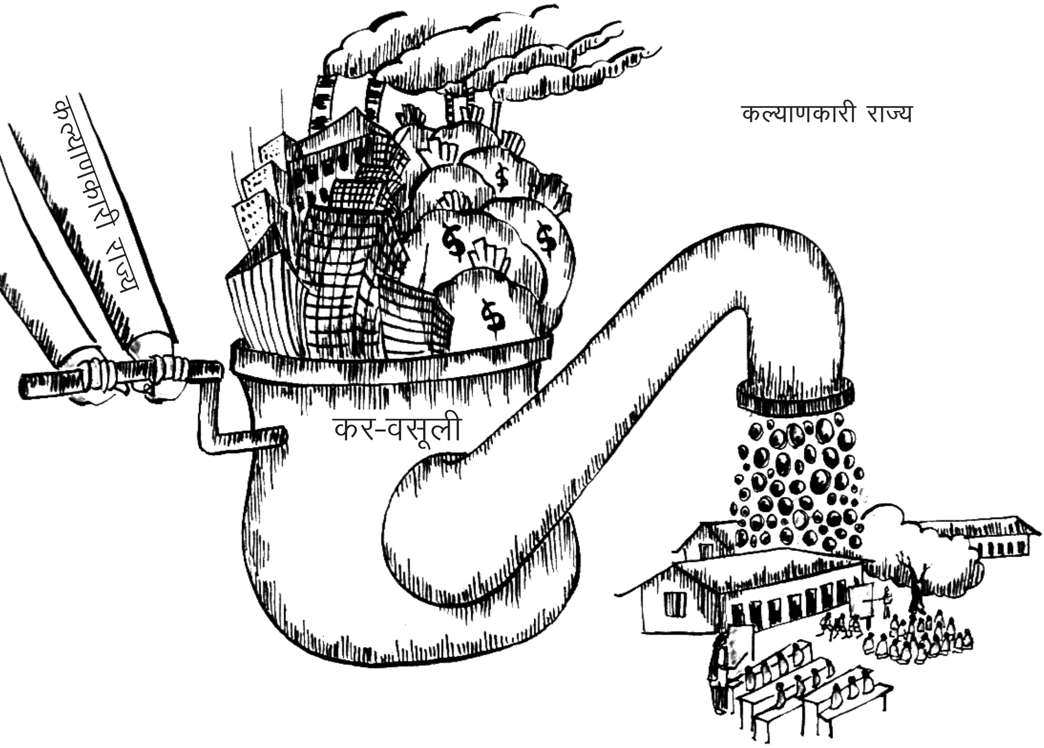

नियमित करना सभी के लिए फायदेमन्द है। पूरे समाज की ज़रूरतों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए न कि सिर्फ उन वर्गों की ज़रूरतों को जिनकी बाज़ार में ज़्यादा ताकत है। पूँजीवाद को नियंत्रित करने वाली संस्थाओं को सभी लोगों के प्रति जवाबदेह होना चाहिए, सिर्फ अमीरों के प्रति नहीं। इसलिए भारत के संविधान में एक जनतांत्रिक तरीके से चुनी गई सरकार का प्रयोजन किया गया। अमरीका, इंग्लैण्ड और फ्रांस की तरह यहाँ पर भी चलन रहा है कि यह तय करने के लिए कि साधनों का बँटवारा कैसे किया जाए, कौन-से सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा दिया जाए इत्यादि जैसे मामलों में सिर्फ बाज़ार में हावी लोगों की ही नहीं, बल्कि पूरे समाज की आवाज़ सुनी जाए। सरकार, बाज़ार और समाज के बीच में किस तरह का सन्तुलन हो, इसके कई स्वरूप हो सकते हैं। जब भारत को आज़ादी मिली तो सरकार ने हमारे विकास को दिशा देने की ज़िम्मेदारी ली थी। निजी कम्पनियों को इस ज़िम्मेदारी के लायक नहीं माना गया और उन पर यह भरोसा भी नहीं था कि वे अपने मुनाफों से इतर लोगों के हितों के बारे में भी सोचेंगी।

1950 के दशक में हमारा जनतंत्र काफी हद तक उच्च वर्ग और उच्च जाति के मुठ्ठी भर लोगों के हाथ में सिमटा हुआ था। हालाँकि आज़ादी की लड़ाई में छोटे किसानों और मज़दूरों की भागीदारी पर ज़ोर दिया गया था फिर भी निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में उनका दखल ज़्यादा नहीं था। उस समय देश के सबसे ताकतवर समूह थे बड़े किसान, बड़ी कम्पनियाँ और बड़े पदों पर बैठे सरकारी मुलाज़िम। नेहरू के दौर की सरकार में सबसे ऊपर कुछ ऐसे पढ़े-लिखे लोग थे जिनको यह यकीन था कि पूँजीवाद भारत की बड़ी समस्याओं का हल नहीं दे सकता। सरकार ने विकास की नीतियाँ बनाई और बड़े औद्योगिक निर्माण कराए। सरकार ने एक आदर्श मालिक की भूमिका भी निभाई, और अपने मुलाज़िमों को ऐसी तनख्वाह और भत्ते दिए जो पूँजीपतियों के लिए मिसाल बने। यह वही दौर था जब बड़ी तादाद में सरकारी स्कूल खुले और शिक्षकों की भर्ती भी हुई। सरकारी शिक्षक निजी स्कूलों के शिक्षक से कहीं ज़्यादा वेतन पाते थे और लोग निजी स्कूलों के बनिस्बत सरकारी स्कूलों में शिक्षक बनना ज़्यादा पसन्द करते थे। भारत में विकास का यह चरण भारत-चीन युद्ध के साथ 1962 में खत्म होना शुरू हो गया।

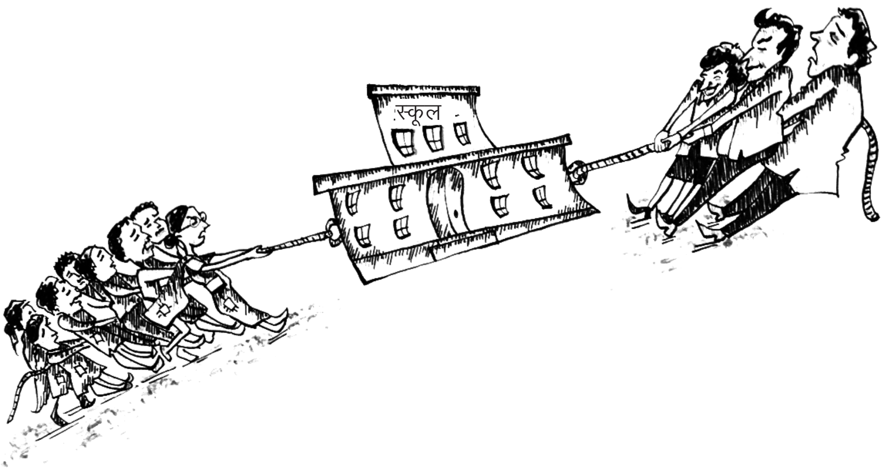

1970 के दशक में सरकारी संस्थाओं की कुछ समस्याएँ सामने आई और उस दौर को अब ‘लाइसेंस राज’ के नाम से जाना जाता है। कई सरकारी मुलाज़िमों ने अपनी कुर्सी का दुरूपयोग किया और लोगों की सेवा की जगह अपने ही हितों की सेवा की। क्योंकि जनतांत्रिक व्यवस्था बड़े लोगों के ही हाथ में थी, आम इन्सान सरकारी मुलाज़िमों पर ठीक से काम करने के लिए दबाव नहीं डाल पाता था। भ्रष्टाचार और निकम्मेपन को बढ़ने की छूट मिली क्योंकि जनतंत्र उस पर लगाम नहीं डाल सका।

ऐसी परिस्थितियों में कुछ लोगों ने फिर से बाज़ार और पूँजीवाद की तरफ झुकना शुरू किया है कि शायद वे ही इस का इलाज दे दें। यह कहा जाता है कि अपने लाभ को देखकर व्यक्ति ज़्यादा अच्छा काम करेगा न कि सहयोग और सेवा की भावना से। तो फिर बहुत से उद्योगों और सेवाओं के निजीकरण से ही शायद वे संस्थाएँ और उनके मुलाज़िम ठीक से काम करेंगे। इस तरह की दलीलें शिक्षा के निजीकरण के लिए भी दी जाती हैं और कॉरपोरेट घरानों की बढ़ती ताकत को स्वीकारने के लिए भी। भारत में जो तब्दीलियाँ आ रही हैं उनमें कॉरपोरेट घरानों और याराना पूँजीवाद (Crony capitalism) के प्रति सरकार का बढ़ता हुआ झुकाव दिख रहा है। वैश्वीकरण ने इस तरह की प्रक्रियाओं को हमारे यहाँ लाने में मदद की है। जहाँ एक तरफ वह भारत में सामूहिक काम करने के नए तरीके लाया है वहीं उसने नव-उदारवाद की संस्कृति भी यहाँ फैलायी है। नव-उदारवाद एक राजनैतिक विचारधारा है जिसकी मान्यता है कि बाज़ारों द्वारा हर काम को ज़्यादा अच्छे से किया जा सकता है और सरकारों को अपना दायरा सीमित रखना चाहिए। 1991 में इसी विचारधारा के चलते भारत में आर्थिक उदारवाद की शुरुआत की गई। तब से अब तक इस विचारधारा का असर अधिकांश राजनैतिक पार्टियों के बीच फैल चुका है और इसका साया कई राज्य और केन्द्र सरकारों की नीतियों पर दिखता है।

पूँजीवाद के बढ़ते हुये प्रभाव का विरोध करने वाले इस मान्यता को कि बाज़ार सरकार से अच्छी सेवा प्रदान कर सकते हैं "नव-उदारवादी विचारधारा" कहते हैं। उनका कहना है कि बाज़ार अधिकांश लोगों को न्याय या खुशहाली दे ही नहीं सकते। वे कहते हैं कि पूँजीवाद जैसे ही पूँजीपति और मैनेजर वर्गों को पैदा करता है, उसके बाद उन्हीं के हित में काम करता है, बाकियों को तो सिर्फ टुकड़े ही फेंकता है। जैसे-जैसे सरकारें अपने काम से पीछे हटती जा रही हैं वैसे-वैसे यहां के निचले पढ़े-लिखे वर्ग और बहुतायत किसानों और कुशल व अकुशल मज़दूरों के हाथ कमज़ोर होते जा रहे हैं। यह इसलिये क्योंकि बाज़ार उन लोगों की तरफ ज्यादा ध्यान देता है जिनके पास खर्च करने के लिये अधिक पैसा है न कि उनकी तरफ जिनके पास पैसा कम है। शिक्षा के बढ़ते निजीकरण के कारण संपन्न लोगों के बच्चों को अच्छी शिक्षा मिलेगी और जो संपन्न नहीं हैं उनके बच्चों को कम फीस वाले स्कूलों में ही जाना पड़ेगा जहां बहुत सारे बच्चों को क्लास में ठूस कर उन्हें कम प्रशिक्षित और कम वेतन वाले शिक्षक पढ़ायेंगे। बेशक, भ्रष्ट और खुदगर्ज़ नेताओं व अफसरशाही ने राज्य के कामकाज में विकृतियाँ पैदा की, मगर उनको बाज़ारीकरण से ठीक नहीं किया जा सकता। यह कहा जाता है कि इन्हें ठीक करने का तरीका है ज्यादा अच्छा लोकतंत्र बनाना, जिसमें पारदर्शिता और सक्रिय राजनैतिक भागीदारी से सरकारी स्कूलों और अस्पतालों को सुधारा जाये। समस्याओं का हल गरीब वर्गों द्वारा और असरदार राजनैतिक दबाव बनाने से आएगा, न कि बाज़ारीकरण से।

पिछले कुछ दशकों से राज्य के ऊपर पूँजीवाद और कॉरपोरेशनों का दबाव बढ़ा है। वे राज्य का इस्तेमाल सस्ती ज़मीन हथियाने के लिये, सबसिडी लेने के लिये और अपने पसंद की नीतियां बनाने के लिये करते हैं। इस के साथ-साथ उनका मीडिया और संस्कृति पर भी दब-दबा बढ़ा है। अगर आप आज के भारत को देखेंगे तो आपको कुछ छोटे-छोटे द्वीप दिखेंगे जहां ज़बरदस्त विकास और समृद्धि है और उनके आस-पास बाकी जगह पर दिनों-दिन पिछड़ती खेती-किसानी

दिखेगी। इसी के कारण बहुत से लोग शिक्षा के ज़रिए ज्यादा सुरक्षित व बेहतर ज़िन्दगी पाने के सपने को लेकर अपने बच्चो की पढ़ाई पर अपना सब कुछ लगा रहे हैं। मगर यहाँ की शिक्षा प्रणाली उस सपने को हकीकत में तब्दील नहीं कर सकती। बेशक, स्कूलों और कॉलेजों में बच्चों संख्या बहुत बढ़ी है मगर उस के साथ ही वहाँ की शिक्षा की गुणवत्ता नहीं बढ़ी। सफेदपोश नौकरी करने वालों की संख्या अभी भी इस देश में छोटी ही है जिसका मतलब है कि शिक्षा द्वारा उस वर्ग में तो बहुत कम ही लोग जा सकते हैं। बाकी लोगों को यहां की शिक्षा फेल कर के डिलिवरी वाले, सेल्स गर्ल, पकौड़े तलने वाले, इत्यादि ही बनाती है। ट्रेड यूनियनों की गिरती ताकत के कारण वेतन भोगी वर्गों की आवाज़ भी कमज़ोर हुई है। नियमित नौकरियों की बजाय ठेके या कांट्रैक्ट पर की जाने वाली नौकरियाँ बढ़ी हैं और बहुत से शिक्षक भी अब कांट्रैक्ट पर ही पढ़ाते हैं। इसके कारण शिक्षा को कैरियर के रूप में देखना बहुत लोगों के लिये कठिन हो गया है। इस तरह की कई मसलों को जब हम लेते है तो स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवाद और उस पर उठते विवादों को देखे बिना हम आज के भारत में शिक्षा की भूमिका को नहीं समझ सकते।

यह देश, और पूरा विश्व भी, किस दिशा में जाएँगें इसकी भविष्यवाणी करना तो बड़ा मुश्किल है। मगर पूँजीवाद के घने साए में बढ़ते हुए क्या-क्या समस्याएँ आएँगी, इनका अन्दाज़ा तो लगाया जा सकता है। डर यह है कि कंपनियों के मालिक और वरिष्ठ मैनेजर इस देश के सबसे ज़्यादा ताकतवर लोग बन जाएँगें, शिक्षा का अर्थ कम्पनियों के लिए वफादार मुलाज़िम तैयार करना हो जाएगा, न कि स्वतंत्र सोच वाले इन्सान। उच्च शिक्षा सिर्फ उतने से लोगों के लिए होगी जितने की ज़रूरत कंपनियों को होगी, बाकी लोगों के लिए बस स्कूली शिक्षा ही पर्याप्त मानी जाएगी। यह बातें पूँजीवाद के चरित्र के अनुसार हैं और इनसे खर्चा भी कम है और मुनाफा भी ज़्यादा। मगर समाज में और प्रक्रियाएँ भी हैं और उनका अपना तर्क और स्वरूप है। मिसाल के लिए, एक जागरुक जनतंत्र के लिए अनिवार्य है कि राज्यसत्ता सभी

नागरिकों की आवाज़ सुने और उन्हें समुचित जगह दे न कि सिर्फ अमीरों को। सांस्कृतिक मान्यताओं का अपना दबाव भी हो सकता है, जो मुनाफे को कम महत्व दे सकती हैं और कह सकती हैं कि कुछ काम तो किए ही जाने चाहिए, क्योंकि वे नैतिक कारणों से उचित हैं, चाहे उनमें लागत ज़्यादा ही क्यों न हो। यह कहा जा सकता है कि शिक्षा का अर्थ है जागरूकता और अपनी मर्ज़ी से कुछ भी बनने की आज़ादी, चाहे इससे करों में बढ़ोतरी ही क्यों न हो और अमीरों का मुनाफा थोड़ा कम ही क्यों न हो जाए।

भारत में पूँजीवाद ने जहाँ एक तरफ सामन्तवादी संस्कृति एवं पुराने सामन्ती रिश्तों को उखाड़ कर नए विकल्प ईजाद किए हैं, वहीं दूसरी ओर इसने अपने साथ नए बन्धनों और अन्तर्विरोधों को भी जन्म दिया है। यह कह पाना मुश्किल है कि हम कहाँ जाएँगे या पूँजीवाद आगे क्या रूप अख्तियार करेगा। इन सवालों के जवाब के लिए हमें पूँजीवाद को समझने की ज़रूरत तो है ही, उसके परिणामों और विकल्पों को भी समझने की ज़रूरत है। जहाँ तक शिक्षा का सवाल है, पूँजीवाद अकेले शिक्षा को प्रभावित नहीं कर रहा। शिक्षा पूँजीवाद और सरकार दोनों से अभिन्न तरीके से जुड़ी है, चाहे वह पाठ्यचर्या में शामिल ज्ञान का मामला हो या शिक्षकों की छवि का या विद्यार्थियों के मूल्यों का। ऐसे में शिक्षाविदों को भारत एवं अन्य जगहों पर पूँजीवाद, शिक्षा और समाज के रिश्तों पर उठते हुए सवालों और चिन्ताओं से जूझना ही पड़ेगा।

आगे पढ़िए:

- कुमार, कृष्ण, “टीचिंग एंड द नियो-लिबरल स्टेट”, *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,* 46 (21), 2011, पृष्ठ 37-40
- कुमार, रवि, “इक्वालिटी, क्वालिटी एंड क्वंटिटी – मैपिंग द चैलेंजस बिफोर एलिमेंट्री एजुकेशन इन इंडिया”, कुमार, रवि (संपा.), *द क्राइसिस ऑफ एलिमेंट्री एजुकेशन इन इंडिया* में संग्रहित, नई दिल्ली, थाउज़ेंड ओक्स, कैलिफः सेज, 2006
- मार्क्स, कार्ल, *वेज लेबर एंड कैपिटल,* 1847, (http://www.marxists.org/archive/marx/works/1847/wage-labour/index.htm से साभार)

5

औपचारिक संगठनों के माध्यम से शिक्षा

पूँजीवाद के विकास और रिश्तों के घुलाव के चलते बड़े-बड़े कारखानों व संस्थाओं का बनना मुमकिन हो जाता है। लोग अब इतनी बड़ी तादाद में इकट्‌ठा हो कर काम करना शुरू करते हैं जितना इतिहास में पहले कभी देखा नहीं गया था। अब वे आपस में सामंजस्य बना कर इतने बड़े काम करते हैं जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह सब एक अलग तरीके से काम करने से ही मुमकिन होता है और अब हम उस तरीके पर ध्यान देंगे।

इस युग में औपचारिक संगठनों का फैलाव हुआ है जो मानव समाज के बहुत से हिस्सों में अपनी पकड़ बना चुके हैं, जिनमें से एक शिक्षा भी है। आधुनिक युग के स्कूलों के व्यापक प्रभाव के पीछे काम करने का यही तरीका है और उनकी कई समस्याओं के पीछे भी। यहाँ हम बात करेंगे औपचारिक संगठनों की, उनसे मिलने वाले फायदों की, उनकी कुछ समस्याओं की और शिक्षा में उन समस्याओं को दूर करने के लिए किए गए प्रयासों की। पूँजीवाद से पहले भी औपचारिक संगठन हुए हैं मगर अब वे सामाजिक जीवन के अमूमन सभी दायरों में फैल गए हैं और स्कूल व विश्वविद्यालय अक्सर इसी स्वरूप में मिलते हैं।

औपचारिक संगठन

औपचारिक संगठन ऐसे ढांचे को कहते है जिसके नियमों, संस्कृति और संरचना को एक पूर्व-नियोजित खाके के अनुसार स्थापित किया

स्कूल जीवन का एक नमूना

जाए और उसे सोच-समझ कर व सचेत रुप से बनाए रखा जाए व नियमित भी किया जाए। परिवार एक औपचारिक संगठन नहीं है। हालाँकि परिवार के भी अपने कहे और अनकहे नियम होते हैं, पर वे बहुत धीरे-धीरे कई पीढ़ियों व शताब्दियों में समय की ठोकरों व सीखों से विकसित होते हैं। परम्परा व संस्कृति उन मानकों के स्रोत होते हैं जिन्हें परिवार अगली पीढ़ी को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष तरीके से सिखाने की कोशिश करता है। लेकिन एक औपचारिक संगठन अपने लक्ष्यों

के बारे में और अपने उन सामाजिक नियमों के बारे में अधिक स्पष्ट होता है, जिनके माध्यम से वह उन लक्ष्यों को हासिल करना चाहता है। गुरुकुल सम्भवत: परिवार के ढाँचे पर आधारित थे, मगर आजकल की शैक्षणिक संस्थाएँ औपचारिक संगठन हैं। अगर औपचारिक ढाँचे इतने व्यापक हो गए हैं तो यह सवाल ज़रूर उठेगा कि यह क्यों हुआ

घड़ी की तानाशाही

है और अगर उनके कोई लाभ हैं तो वे क्या हैं। उनकी सफलता और उनकी सर्व-व्यापकता को समझने की ज़रूरत है।

औपचारिक संगठनात्मक ढाँचा करोड़ों लोगों को समान रूप से शिक्षित करना सम्भव बनाता है। वह हमें बड़े स्कूल बनाने की क्षमता देता है और विभिन्न स्कूलों के बीच समन्वय की भी। पर साथ ही वह अक्सर उबाऊ दैनिक रूटीन भी बना देता है जिसके चलते अनगिनत शिक्षकों और विद्यार्थियों को ऐसा एहसास होता है जैसे कोई उनकी आत्मा को रौंद रहा हो। वह उन्हें बाध्य करता है कि वे समय-सारणी की व्यवस्था के अनुरूप ही विषयों को लेकर उत्साहित हों – मसलन, 8:40 से 9:20 तक गणित, 9:20 से इतिहास, 10:00 बजे से भौतिक शास्त्र वगैरह। इस मशीनी तरीके से काम करते हुए कई बार यह सवाल उठता है कि हमारे जीवन में कुछ भी सच्चा और जीवन्त है भी कि नहीं। ये हमारी आज की शिक्षा प्रणाली के कुछ केन्द्रीय सवाल हैं।

जर्मन विद्वान मैक्स वेबर (1864-1920) ने औपचारिक संगठनों की विशेषताओं को बखूबी परिभाषित किया था। उन्होंने ऐसे संगठनों को अफसरशाही या अधिकारी-तंत्र (ब्यूरोक्रेसी) कहा था। यह अफसरशाही केवल सरकार में ही नहीं बल्कि निजी कम्पनियों व अस्पतालों, स्कूलों और विश्वविद्यालयों जैसी संस्थाओं में भी नज़र आती है। वेबर का मानना था कि औपचारिक संगठन या अफसरशाही इस कारण उभरे हैं क्योंकि वे बड़े स्तर की और जटिल गतिविधियों से अधिक कारगर रूप से निपट सकते हैं। खासकर उन परिस्थितियों में जब उन गतिविधियों को बार-बार दोहराना पड़ता हो। परिवार का मॉडल किसी ऐसे स्कूल के लिए सही हो सकता था जिसमें मात्र 30-40 विद्यार्थी हों, जैसे गुरुकुल में होते थे। पर अगर विद्यार्थियों की संख्या सैंकड़ों या हज़ारों में हो, जैसा कि मौजूदा वक्त के अनेक स्कूलों या कॉलेजों में होती भी है, तो इतने सारे विद्यार्थियों को एक परिवार की तरह सिखा पाना और उन पर नियंत्रण रखना असम्भव है। औपचारिक संगठन परिवार जैसे अनौपचारिक संगठनों से अलग तरीके से काम करते हैं। उनकी कुछ विशेषताओं की चर्चा नीचे की गई हैः

1. **काम को छोटी इकाइयों में बाँटना:** परिवार या गुरुकुल विभिन्न उम्र के 10-15 विद्यार्थियों को साथ रखकर उन सबको पढ़ा सकते थे। पर 500 विद्यार्थियों को साथ-साथ पढ़ाना कठिन था। सो उन्हें अलग-अलग आयु समूहों में या ज्ञान के अलग-अलग स्तरों के अनुसार बाँट दिया गया ताकि उन्हें पढ़ाना आसान हो। इससे स्कूल विभिन्न कक्षाओं में बँट गए और जो पढ़ाया जाना था उसे विभिन्न विषयों में बाँट दिया गया, जिन्हें अलग-अलग शिक्षक पढ़ा

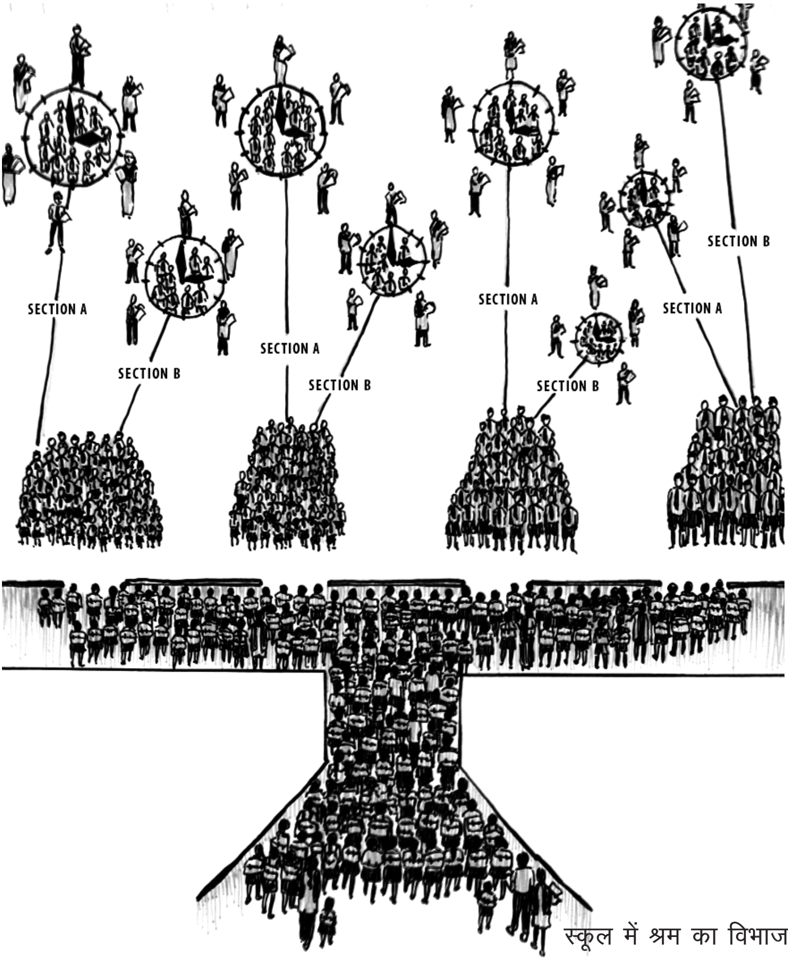

स्कूल में श्रम का विभाजन

सकते हों। इससे प्रत्येक शिक्षक के लिए काम आसान हो गया क्योंकि अब उनके लिए सभी विषयों को जानना ज़रूरी नहीं रहा और वे एक या दो विषयों के विशेषज्ञ बन सकते थे।

2. **एक व्यवस्था निर्मित करना**: काम को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँटने के लिए यह ज़रूरी था कि कोई समूचे काम को एक प्रणाली के रूप में देखे। साथ ही, यह भी ज़रूरी हो गया कि इस प्रणाली की अलग-अलग घटनाओं के बीच एक अटूट सिलसिला बने। यह सोचने की ज़रूरत थी कि बच्चे पहली, दूसरी, तीसरी, और इसी तरह एक के बाद एक अलग-अलग कक्षाओं में क्या सीखेंगे। यह भी सुनिश्चित करना था कि पाठ्यक्रम के अलग-अलग हिस्से आपस में ठीक से जुड़ते हों और पाठ्यक्रम तरतीब से विभाजित हो। एक छोटे स्कूल में यह ज़रूरी नहीं था क्योंकि वहाँ एक या दो शिक्षक ही सब कुछ पढ़ाते थे और हर दिन खुद ही यह भी तय करते थे कि किसके बाद क्या पढ़ाया जाए। पर बड़े स्कूलों में यह ज़रूरी हो गया कि पहले से ही सोच-समझकर एक व्यवस्था बनाई जाए, उसे लगातार जाँचते रहा जाए और कायम भी रखा जाए। शिक्षा और संस्था के कामों को सरल व स्वभाविक तरीके से बच्चों की बड़ी तादाद के साथ नहीं किया जा सकता था। इसी लिए अब इसे औपचारिक तरीके से करने की ज़रूरत आन पड़ी।
3. **स्पष्ट नियम**: परिवार या छोटे समूह में लोगों के साथ किस तरह काम करना है यह जानने के लिए अनुभव ही पर्याप्त है। लेकिन अगर कोई शिक्षक दस कक्षाओं वाले स्कूल में पढ़ाने जाए जहाँ के नियम उसे नहीं मालूम हों और वह पाँचवी कक्षा में वह सब पढ़ाने लगे जो उसे अच्छा लगता हो तो सम्भव है कि थोड़े समय में कक्षा छह और शायद कक्षा चार के भी शिक्षक और विद्यार्थी उसकी शिकायत करने लगें। काम के सुचारु रूप से चलने के लिए यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि कक्षा चार में क्या पढ़ाया जाएगा, कक्षा पाँच में क्या और कक्षा छह में क्या। किसी भी जटिल समाज को चलाने के लिए नियम बेहद महत्वपूर्ण होते हैं। और यह भी ज़रूरी होता है कि सभी सम्बन्धित लोगों को वे मालूम हों।

उदाहरण के लिए, कोई शिक्षिका अपनी मर्ज़ी से यह नहीं कह सकती कि कक्षा एक में बारहखड़ी सिखाने की ज़रूरत नहीं है। कक्षा दो में जो पढ़ाया जाना है वह इस बात पर निर्भर करता है कि पिछले साल क्या पढ़ाया गया था और इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट नियम भी होता है कि ऐसा ही करना होगा। ऐसे औपचारिक नियम भले ही कष्टदायी हों पर एक बड़े स्तर के जटिल संगठन को चलाने के लिए ज़रूरी भी हैं। उन्हें आसानी से इच्छानुसार नहीं बदला जा सकता और वे बड़ी संख्याओं में सामंजस्य बनाने के लिए अनिवार्य हैं।

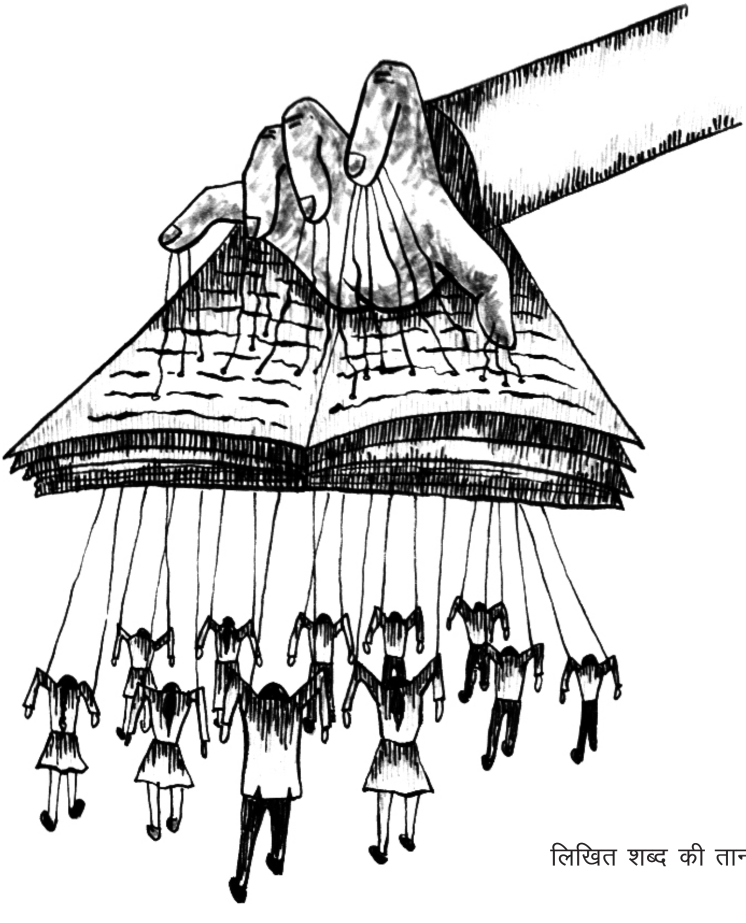

लिखित शब्द की तानाशाही

4. **साक्षरता:** छोटे संगठनों में रहने के अभ्यस्त लोगों के लिए लिपिबद्ध नियम अजनबी हो सकते हैं। वहाँ हर एक को मालूम है कि क्या करना है और क्या नहीं, और अगर कोई यह नहीं जानता हो तो उसे आसानी से बताया भी जा सकता है। साथ ही, कोई समस्या आने पर जो किया जा रहा हो उसे बदलना भी आसान होता है। लेकिन अगर संगठन अपने आकार की एक निश्चित दहलीज़ को पार कर ले तो इससे समस्याएँ आ सकती हैं। उदाहरण के लिए, जब मैं सभी विद्यार्थियों को अकेला ही पढ़ाता हूँ तो मुझे क्या-क्या बताना है इसके एक मानसिक मानचित्र बना लेने से ही काम हो जाएगा और किसी समय-सारणी की ज़रूरत नहीं होगी। पर अगर मैं किसी ऐसे स्कूल में हर दिन चार पीरियड पढ़ाऊँ जिसमें 10-12 शिक्षक हों तो बेहतर यही होगा कि मैं अपने पीरियड को एक समय-सारणी के रूप में लिख कर ऐसी जगह चिपका दूँ जहाँ सभी उसे देख सकें। अन्यथा सम्भव है कि मैं गलत समय पर दूसरों की कक्षाओं में पहुँच जाऊँगा। एक अर्थ में साक्षरता ने भी टकराव के समाधान में मदद की है। अगर मैं और मेरा मित्र इस बात पर स्पष्ट न हों कि 10:30 बजे किसकी कक्षा है तो हम लिखित समय-सारिणी को देख सकते हैं। दूसरी तरफ लेखन ने नियमों और उन्हें बनाने वालों को भारी ताकत भी दी है। अब जब भी कोई विवाद होता है तो जो लिखे हुए नियमों से ज़्यादा परिचित है वह कह सकता है कि यह देख लो, यह तो पहले से लिखा हुआ है। और जो नियमों को लिखता है वह उन्हें अपने हिसाब से भी लिख सकता है। औपचारिक संगठनों के इस युग में साक्षरता सत्ता के लिए बहुत उपयोगी हो गई है।
5. **पदानुक्रम (हाइरार्की):** शक्ति सभी संगठनों में मौजूद होती है, चाहे वह परिवार हो, गुरुकुल हो या आधुनिक स्कूल। शक्ति सम्भवत: सभी प्रकार के सामाजिक जीवन का आवश्यक पक्ष भी है। इसलिए क्योंकि हम जो काम कर रहे होते हैं उसकी दिशा पर अपना नियंत्रण बनाए रखना चाहते हैं और अलग-अलग दिशाओं से आने वाले खिंचावों का प्रतिरोध भी करना चाहते हैं। ऐसा कर पाने के

स्कूलों में हाइरार्की

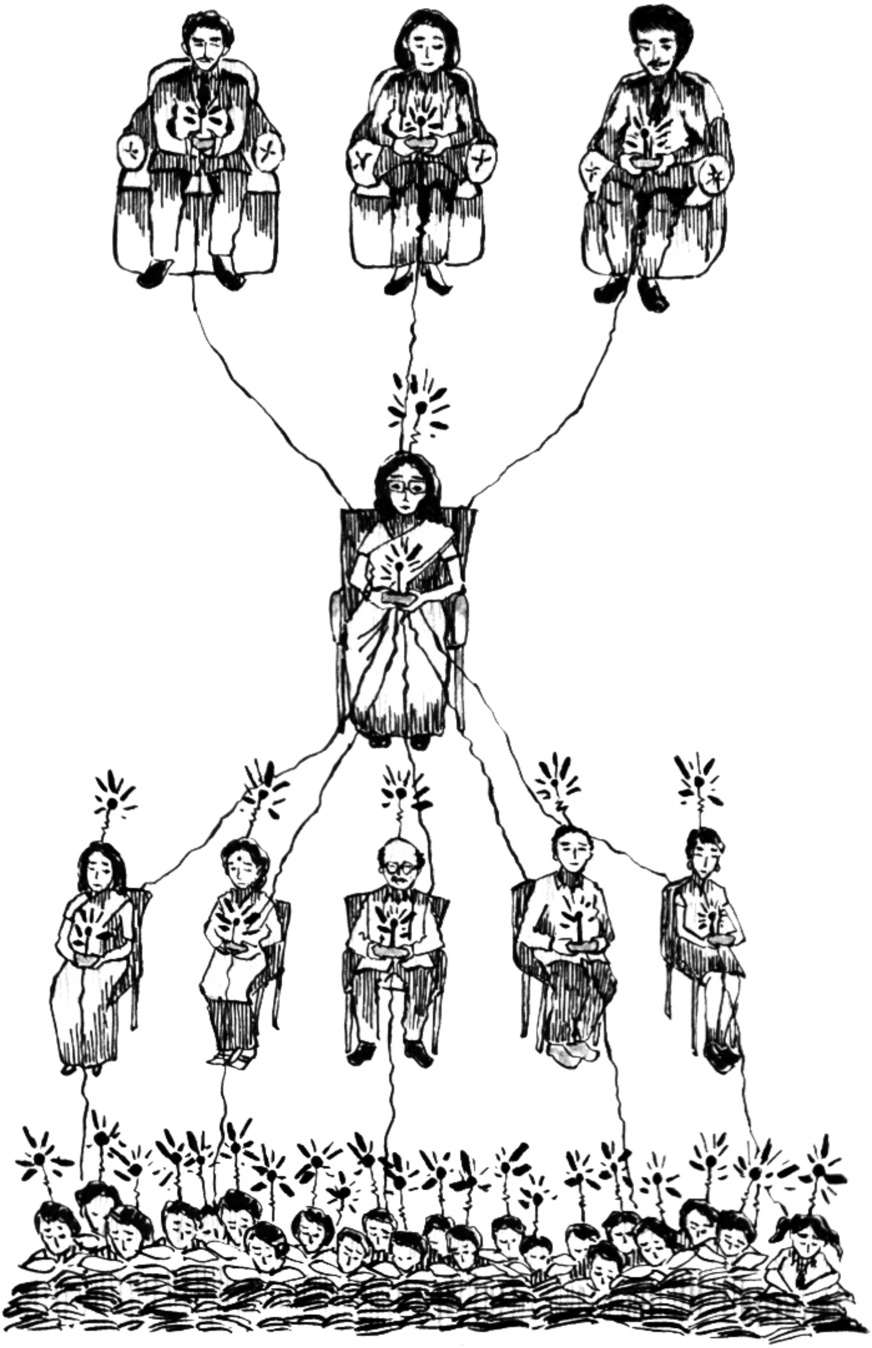

लिए हममें अपनी शक्ति के उपयोग की क्षमता होनी चाहिए। बिना शक्ति के शायद कोई संगठन सम्भव ही नहीं है। हो सकता है कि छोटे समूहों में शक्ति इस तरह से पसरी हुई हो कि उसका स्वरूप साफ-साफ न दिखे। लेकिन औपचारिक संगठनों में एक स्पष्ट पदानुक्रम मौजूद होता है और शक्ति की दिशा भी काफी हद तक स्पष्ट होती है। एक ठेठ औपचारिक संगठन में शक्ति शीर्ष पर केन्द्रित होती है और सभी को उसका अनुसरण करना पड़ता है। भूमिकाओं का स्पष्ट विभाजन होता है जिसमें यह भी शामिल होता है कि कौन किसके प्रति जवाबदेह है। अत: औपचारिक रूप से संगठित स्कूल में शिक्षक प्राचार्य के प्रति जवाबदेह होते हैं, जो स्वयं स्कूल के न्यासियों के प्रति या शिक्षा अधिकारी के प्रति जवाबदेह हो सकता है। जो सबसे नीचे हैं उन्हें शीर्ष की मंशा का प्यादा ही माना जाता है। निचले स्तर का शीर्ष द्वारा नियंत्रण बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि केवल तभी संगठन उस दिशा में बढ़ सकता है जिस दिशा में शीर्ष उसे ले जाना चाहता है। अगर नीचे का स्तर मनचाही दिशा में बढ़े तो संगठन के लक्ष्य ही गुम हो सकते हैं। पदानुक्रम और शक्ति का केन्द्रीकरण ही औपचारिक संगठन को एक असरदार रूप देते हैं और इसी कारण वह इतना प्रचलित भी हुआ है।

6. **रूटीनीकरण**: औपचारिक संगठन की विविध गतिविधियों का विश्लेषण कर उन्हें इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि उनको रूटीन तरीके से किया जा सके। इसी लिए दैनिक समय-सारणी, साल भर की योजना आदि बनाए जाते हैं। रूटीनीकरण का फायदा यह है कि शिक्षक और विद्यार्थी बिना गहन आत्म-मंथन या दबाव के यह जान पाते हैं कि उन्हें क्या करना है। इससे चीज़ें सुचारु रूप से चलती रहती हैं और हर साल वही बातें फिर से सोचने की परेशानियों से भी बचा जाता है क्योंकि एक योजना पहले से ही उपलब्ध होती है। रूटीनीकरण भावनात्मक और बौद्विक प्रयास को भी कम करता है और चीज़ों को गति भी देता है। शिक्षक तथा प्राचार्य एक रूटीन बना सकते हैं, जैसे हर

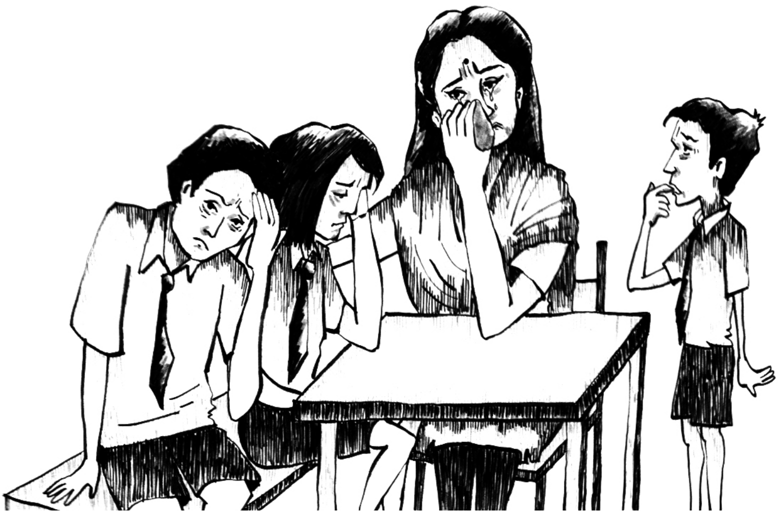

क्या निर्वैयक्तिकता बेहतर है?

सप्ताह शनिवार को एक बैठक का आयोजन करना, जो विभिन्न मुद्दों पर चर्चा का नियमित अवसर उपलब्ध करवाती हो। ऐसे में अलग से एक विशेष बैठक की ज़रूरत नहीं होती, जो सबके काम में बाधा डाले।

7. **निर्वैयक्तिक रवैया:** रूटीनीकरण से ही जुड़ा हुआ है काम को भावहीन और तटस्थ रूप से करना। अपने काम को लेकर उत्तेजित या हतोत्साहित न होना उस काम को करना काफी हद तक आसान बनाता है। अगर उत्तर-पुस्तिकाओं को जाँचते समय मैं कभी खुश हो जाऊँ या कभी बेहद दुखी, तो मैं बड़ी धीमी रफ्तार से काम कर सकूँगा। मुझे कई बार काम को रोकना होगा ताकि मैं अपना सन्तुलन वापस पा सकूँ। पर अगर मैं उसे एक रूटीन तकनीकी गतिविधि के रूप में देखूँ तो मैं फटाफट उत्तर-पुस्तिकाओं को जाँच लूँगा। तटस्थता औपचारिक संगठनों को कुछ अन्य लाभ भी देती है। जैसे, किसी संगठन के विभिन्न पदों और भूमिकाओं को किसी खास व्यक्ति से जोड़ने की अनुमति नहीं होती। उदाहरण बतौर, सरकारी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का एक पद स्वीकृत होता है। उस पद पर लोग आते-जाते रहते हैं पर पद बना रहता है। प्राचार्य के पास निश्चित दिशानिर्देश होते हैं

जो शिक्षक के पद से जुड़े होते हैं, उस व्यक्ति से नहीं जो अब जा चुका है। पुराने शिक्षक की कक्षा में नया शिक्षक भेजा जाता है और व्यवस्था यथावत चलती जाती है। यह तटस्थता स्कूल को कई पीढ़ियों तक चलते रहने की गुंजाइश देती है और किसी एक व्यक्ति के चले जाने पर व्यवस्था को ढेर नहीं होने देती। यह परिवारों को चलाने के अति-वैयक्तिक तरीकों के विपरीत है, जहाँ सदस्यों के चले जाने से भीषण संकट उत्पन्न हो सकता है।

औपचारिक संगठनों की समस्याएँ

मानव इतिहास में औपचारिक संगठन बेहद लाभदायक रहे हैं। औद्योगिक क्रान्ति औपचारिक संगठनों के विकास के साथ ही आ सकी थी। उनकी वजह से ही अधिक कुशलता व बेहतर गुणवत्ता नियंत्रण भी सम्भव हुआ। वे दुनिया भर के स्कूलों का बुनियादी ढाँचा भी बने जिससे स्कूलों के आकार में वृद्धि हो सकी और स्कूलों को प्रान्तीय व राष्ट्रीय स्कूली व्यवस्था में एकजुट किया जा सका। उदाहरण के लिए,

दब्बू छात्र

स्कूली शिक्षण समाप्त करने का प्रमाण पत्र विकसित किया गया जो औपचारिक संगठनों में ही पाया जाता है। इसके होने से किसी व्यक्ति के लिए यह आसान हो गया कि वह सैंकड़ों किलोमीटर दूर जा प्रमाण पत्र दिखाकर किसी दूसरी संस्था में दाखिला पा सके।

परन्तु मानव समाज में, खास तौर से स्कूलों में, औपचारिक संगठनों को लेकर खूब विवाद भी होता रहा है। विद्यार्थियों व शिक्षकों की कई पीढ़ियाँ नियमों के ऐसे शिकंजे में गिरफ्तार रहे हैं जो उनकी भावनाओं व स्वाभाविक प्रवृतियों को कुचल डालते है। उदाहरण के लिए, स्कूल दिवस का आठ पीरियड में विभाजन और प्रत्येक पीरियड में अलग-अलग विषयों की योजना को ही ले लीजिए। सम्भव है कि इसके कई लाभ हों, जैसे सभी विषयों को पढ़ाना सुनिश्चित करना और विद्यार्थियों को दिन भर एक ही विषय से थका न देना। लेकिन ऐसे दिन भी होते हैं जब कक्षा बढ़िया तरीके से आगे बढ़ रही हो और उस खास विषय को लेकर विद्यार्थियों में खूब उत्साह जग चुका हो और तभी अचानक घण्टी बज उठती है और आपको वह विषय छोड़कर अचानक कुछ और पढ़ना पड़ता है। ऐसी स्थिति में आप यह सोचने पर बाध्य होते हैं कि औपचारिक संगठन अच्छी शिक्षा में सहायक हैं या बाधक।

औपचारिक शिक्षा में कई प्रकार की समस्याएँ चिन्हित की गई हैं। उनमें से एक यह है कि जहाँ औपचारिक संगठन प्रभावी हैं, वहाँ विद्यार्थी और शिक्षक मूलत: व्यवस्था जो उम्मीद करती है बस उसका ही पालन करना सीख लेते हैं। किसी कारगर औपचारिक संगठन में रोज़मर्रा के काम पर कड़ा नियंत्रण होता है। जो व्यवस्था का विरोध करते हैं, चाहे वे सही ही क्यों न हों, वे खुद को एक सशक्त विपक्षी के समक्ष पाते हैं। औपचारिक संगठन से लड़ना और उसे बदलना बहुत चुनौतीपूर्ण काम है। इससे कहीं आसान है कि व्यक्ति हथियार डालकर वह करता चले जिसकी उम्मीद की जा रही है। औपचारिक संगठन विनम्र, आज्ञाकारी और सवाल न उठाने वाले लोगों को पसन्द करते हैं। इसका प्रभाव स्कूल में शिक्षकों व विद्यार्थियों दोनों के बीच जिस तरह के व्यक्तित्वों का निर्माण हो रहा है उस पर पड़ता है।

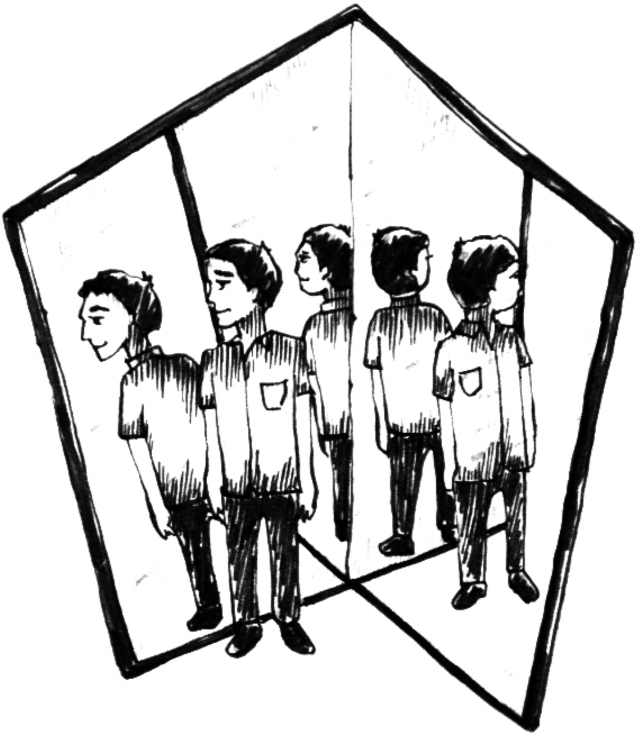

अलग-अलग प्रकार की तार्किकता

ऐसे संगठनों में सहज या स्वभाविक होना बेहद कठिन है। सब कुछ इस कदर ढाँचों में बँधा होता है कि निजी प्रवृतियों व रुचियों को थोड़ी-सी भी जगह देना बहुत मुश्किल हो जाता है। इससे व्यक्ति में दूसरे जो कर रहे हों और जो कहा जा रहा हो उसी का अनुसरण करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस स्थिति में यह सवाल उठता है कि हम ऐसे रचनात्मक व सक्रिय चिन्तक कैसे बनाएँ जो दुनिया की बुनियादी मान्यताओं की जाँच कर उन पर सवाल उठा सकें।

दुनिया का तार्किकीकरण

औपचारिक संगठनों के मूल सिद्धान्तकार मैक्स वेबर ने इनकी बुनियादी समस्या का बहुत अच्छा विश्लेषण किया था। उनका कहना था कि हम अपने जीवन में जो कुछ करते हैं उसके कई कारण होते हैं। उदाहरण बतौर, हम कुछ काम तकनीकी और मतलबी कारणों से करते हैं। हमारे सामने कोई लक्ष्य होता है और हम उसे हासिल करने के लिए उस समय संभव सबसे आसान तरीका तलाश लेते हैं। इसी

तरह तकनीकी तर्क के सहारे हम इसका उपाय तलाशते हैं कि स्कूल में सभी विषयों को कैसे पढ़ाया जाए और यह पाते हैं कि ऐसा करने का सबसे प्रभावी तरीका है एक समय-सारणी बनाना और सभी विषयों के लिए समय को बराबर विभाजित कर देना। पर समस्या यह है कि हम केवल तकनीकी कार्यों और तकनीकी सोच के लिए नहीं जीते बल्कि चीज़ों को करने की हमारी अपनी एक लय-ताल होती है। साथ ही, हम कभी-कभी किसी बात से प्रेरित और उत्साहित भी होते हैं। कभी हमारे ऐसे गहरे मूल्य भी हो सकते हैं जो उस मौके के लिए चाहे व्यवहारिक न हों, पर हम फिर भी उनके अनुरूप काम करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, तकनीकी और मतलबी तर्क से लग सकता है कि स्वतंत्रता दिवस मनाना एक पूरे दिन को बरबाद कर देना है जिसका उपयोग गणित और इतिहास पढ़ने-पढ़ाने में किया जा सकता था। पर अपने झण्डे को हवा में फहराते देखना और बुलन्द आवाज़ में राष्ट्रीय गीत गाने का जो आनन्द है वह भी हमारे लिए महत्वपूर्ण है। औपचारिक संगठनों के साथ जो कठिनाइयाँ हैं उनकी जड़ इस बात में है कि वहाँ हम केवल तात्कालिक लक्ष्यों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, ताकि तात्कालिक ज़रूरतें पूरी की जा सकें। इसे कभी-कभार उपकरणवादी तार्किकता (इंस्ट्रुमेंटल रेशनालिटी) कहा जाता है, और बेशक वह अपने-आपमें कोई बुरी चीज़ नहीं है। अगर हम इस दुनिया में जीना चाहते हैं तो हमें बहुत सारी चीज़ें बेहद उपकरणवादी या तकनीकी और मतलबी तरीके से करनी होती हैं। जैसे, अपने करियर को बनाने के लिए पढ़ाई करना, किसी नदी को पार करने के लिए पुल बनाना, आदि-इत्यादि। पेंच दरअसल इस बात में है कि चीज़ें करने के अन्य कारणों जैसे, भावना, मूल्य, सौन्दर्य तथा जीवन के तमाम अन्य उद्देश्यों और इस उपकरणवादी तर्क के बीच सन्तुलन कैसे बनाया जाए।

वेबर का मानना था कि औपचारिक संगठनों की रचना इसलिए की गई थी ताकि हम चीज़ों को बेहतर तरीके से कर पाएँ, परन्तु वे धीमे-धीमे 'लोहे का पिंजड़ा' बनते गए हैं, जिसमें हम खुद को कैद

पाते हैं। यह समस्या केवल स्कूलों की नहीं है बल्कि पूरे आधुनिक युग की है। बड़े स्तर के जटिल समाज जहाँ भी नज़र डालें हम उन्हें इस सवाल से जूझते पाएंगे कि ऐसे मानवीय संगठन कैसे बनाए जाएँ जो संवेदनशीलत रहते हुए बड़ी संख्याओं से निपट सकें। कई विद्धान वेबर की भाषा का इस्तेमाल कर इसे दुनिया के तार्किकीकरण की समस्या कहते हैं। लगता यह है कि सब कुछ उपकरणवादी, मतलबी और तकनीकी कारणों से पुनर्गठित हो जाता है। इस प्रक्रिया में इन्सान अक्सर अपनी इन्सानियत के लिए जगह तलाशने के लिए जद्दोजहद करता प्रतीत होता है।

मिशैल फूको उन लोगों में सबसे विख्यात हैं जिन्होंने आधुनिकता की इन विशेषताओं पर हमला किया था। उन्होंने कहा कि आधुनिक संगठन अब भारी शक्ति पा चुके हैं और हमें तमाम ऐसे तरीकों से नियंत्रित करते हैं जिन्हें हम पहचानते तक नहीं। उन्होंने आधुनिक स्कूलों और इम्तिहान की प्रणाली पर विशेष रूप से प्रहार किया। उनका कहना था कि स्कूलों के ज़रिए आधुनिक संस्थाओं की जकड़ हमारे ऊपर और मज़बूत होती है और उसके द्वारा हमें बन्दी बनाया जाता है। फूको कहते थे कि परीक्षाओं द्वारा हमें निगरानी में रहने की आदत डाली जाती है। परीक्षाओं की तैयारी के लिए हम दिन-रात वही सब सोचने-विचारने की कोशिश करते हैं जो परीक्षा लेने वाले चाहते हैं। यह सामाज की बड़ी ताकतों को और ज़्यादा मज़बूत करता है। फूको का कहना था कि हमें 'सामान्य' बनाने की कोशिश में जुटी एक विशालकाय शक्ति हमारे अवचेतन का हिस्सा बन चुकी है और 'सामान्य' दिखने की कोशिश में हम दब्बू और अधीन बनते जा रहे हैं।

औपचारिक संगठनों को सुधारना

सवाल यह है कि इनका क्या हल हो सकता है? कभी तो यह लगता है कि सबसे अच्छा तरीका यह है कि जटिल व बड़े स्तर के समाजों को त्यागकर और फिर से छोटे समूहों में जीना शुरू कर देना चाहिए। हो सकता है कि कुछ समर्पित और उत्साही लोग ऐसा करने की कोशिश भी करें, पर दुनिया की बाकी आबादी के लिए यह कोई

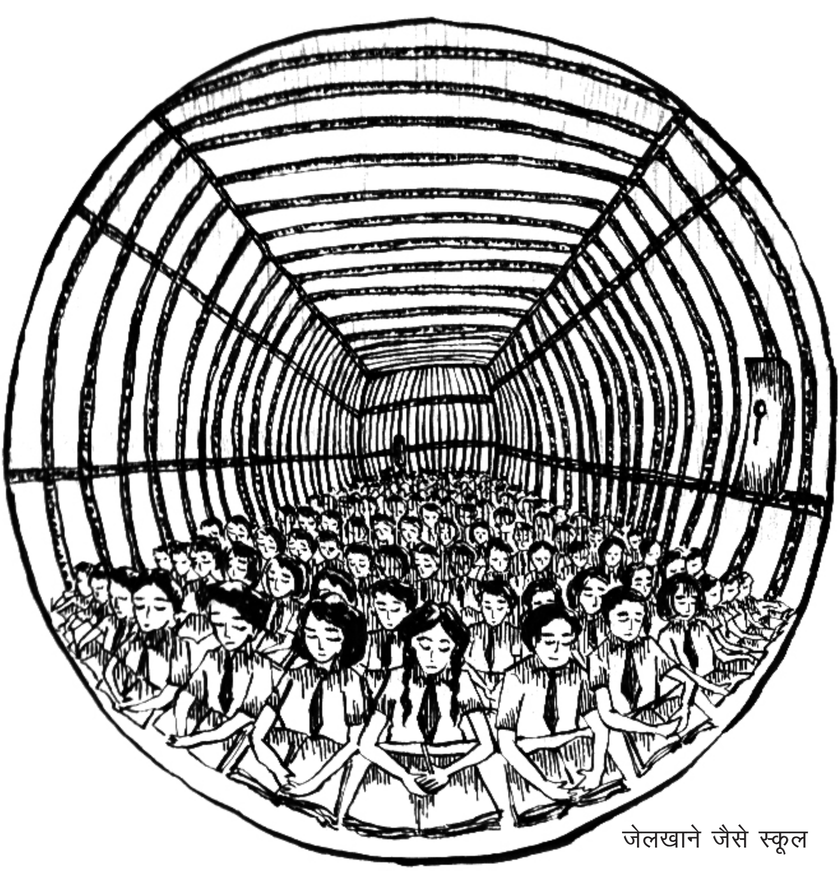
जेलखाने जैसे स्कूल

वास्तविक विकल्प नहीं है। करोड़ों लोगों के पास ऐसा कर पाने का न तो मौका है न ही परिस्थिति। एक और रणनीति जो अपनाई गई है वह है ऐसे औपचारिक संगठन निर्मित करना जो अपनी समस्याओं के प्रति सचेत हों और ज़्यादा मानवीय हों।

औपचारिक संगठनों के रूप में स्कूलों और विश्वविद्यालयों को एक खास समस्या का सामना भी करना पड़ता है। इनमें हम शिक्षक का ऐसा मॉडल रचते हैं जो 'ब्यूरोक्रैट' या नौकरशाह होता है। ऐसा व्यक्ति जो भावनाओं से पूरी तरह अलग होकर कुशल तरीके से काम करे, पढ़ाने पर और विषय ज्ञान की तकनीकी बारीकियों पर ध्यान दे। पर समस्या यह है कि विद्यार्थी ऐसे शिक्षकों से सबसे अच्छी तरह सीखते हैं जो गहन रूप से मानवीय हों और भावहीन न हों। विषय को आकर्षक बनाने की, उसे हमारे सबसे महत्वपूर्ण सरोकारों से जोड़ने

की क्षमता ही विद्यार्थियों को विषय से प्यार करने को प्रेरित करती है। औपचारिक संगठन जिस प्रकार के औपचारिक और निरस रिश्तों को बढ़ावा देते हैं, यह उसके विपरीत है।

इवान इलिच ने आधुनिक स्कूलों की ज़बरदस्त आलोचना की थी, मूलत: उनकी भावहीनता व शक्ति के केन्द्रीकरण के विरोध में। उनके सुझाए समाधानों में एक था शक्ति को सभी लोगों में बाँट देना और उसे शीर्ष पर न केन्द्रित होने देना। कई अन्य लोगों ने भी संगठनों के स्वरूप को इस प्रकार बदलने की चेष्टा की ताकि बड़े ढाँचे के भीतर अनेक छोटे समूहों को स्थान दिया जा सके। अगर छोटे समूहों के बाहरी समूहों के साथ तालमेल बैठाने के तरीके तलाशे जा सकें तो सम्भव है कि वे फिर से काम करने के अनौपचारिक और मानवीय तरीके अपना सकेंगे। साथ ही, वे बड़े तथा जटिल संस्थानों का हिस्सा होने के लाभ भी उठा सकेंगे। ऐसी रणनीतियों का महत्वपूर्ण हिस्सा है कक्षा और स्कूलों के आकार को सीमित कर देना। शिक्षकों, प्रबन्धन व विद्यार्थियों के बीच दोस्ताना व व्यक्तिगत रिश्तों की संस्कृति का निर्माण भी ऐसी रणनीतियों का हिस्सा है।

'वैकल्पिक' स्कूल गढ़ने के अधिकांश प्रयास विद्यार्थियों की संख्या को कम ही रखते हैं। वे तमाम मानक व नियम बनाते हैं जो व्यक्तिगत सम्बन्धों को कायम रखते हैं। इन मानकों व नियमों में जो बातें शामिल हैं, वे हैं – शिक्षकों का बच्चों के साथ रहना, छोटे समूहों में साप्ताहिक बैठकें करना ताकि स्कूल के मसलों पर चर्चा की जा सके। कक्षा में खूब बातचीत और संवाद करना। हालाँकि छोटे समूहों में यह सब करना सम्भव नज़र आता है, चुनौती यह है कि इन तरीकों को किस प्रकार करोड़ों बच्चों के लिए अनुकूल बनाया जाए।

व्यापार की दुनिया में और भी बड़े स्तरों पर अधिक मानवीय औपचारिक संगठन रचने की कई कोशिशें हुई हैं। इनमें कई कम्पनियाँ शामिल हैं जिन्होंने यह तय किया कि किसी भी कार्यालय में 300 से अधिक लोग न हों। जैसे ही उनका आकार इससे बड़ा होता है वे उसे दो कार्यालयों में विभाजित कर डालते हैं। निर्णय प्रक्रिया में व्यापक

छोटे समूह में संवाद करते शिक्षक व विद्यार्थी

भागीदारी के प्रयास भी हुए हैं ताकि अधिक लोगों को काम के साथ सक्रिय रूप से जोड़ा जा सके। उन्हें यह न लगे कि वे ऊपर से आए आदेशों का पालन करने वाले निष्क्रिय मज़दूर मात्र हैं। जिन्हें रूटीन काम करना है उन्हें लगातार लय को बदलने के अवसर दिए जाते हैं। काम के ढाँचे को इस तरह बनाया जाता है कि काम करने वालों की पहल और रचनात्मकता के लिए गुंजाइश बनी रहे।

आधुनिक स्कूल में कारखानों, सरकारों और दफ्तरों की कई विशेषताएँ मौजूद हैं। इसमें कोई हैरानी की बात नहीं क्योंकि ये सभी एक ऐसे युग में मौजूद हैं जिसमें एक खास किस्म के संगठनात्मक स्वरूप का प्रभुत्व है। इन सभी जगहों पर नौकरशाहीकरण की समस्याओं के जो समाधान होंगे उनके बीच कुछ साझे तत्व हो सकते हैं। औपचारिक संगठनों और हमारी दुनिया का तार्किकीकरण उन चुनौतियों के केन्द्र में हैं जिनका सामना आज स्कूल और यह सभी संस्थाएँ कर रही हैं। शिक्षकों और विद्यार्थियों की कई समस्याएँ दरअसल स्कूलों के

औपचारिक चरित्र से ही निकलती हैं। हमारी रचनात्मकता व मानवीयता को बनाए रखने के साथ ही बड़े स्तर के जटिल सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा होने के लाभ उपलब्ध करवाने के उपाय तलाशना ही उन प्रमुख प्रश्नों में एक है जिसका उत्तर स्कूलों व सभी अन्य संगठनों को ढूँढना है। आजकल के कई नवाचार जो स्कूल के दैनिक जीवन को बदल रहे हैं, जैसे कि एक ही कक्षा में अलग-अलग उम्र के बच्चों को रखना, शिक्षकों द्वारा पढ़ाने के ज़्यादा रोचक तरीके ढूँढना, शिक्षकों को विकास का मौका देना और उबाऊ तरीके से रोज़ काम करने पर मजबूर न करना, यह सब स्कूल के तार्किकीकरण और नौकरशाहीकरण से लड़ने की तरीके ही हैं। यह आधुनिक दौर में मानवता के सामने खड़ी सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक को पार करने के कुछ तरीके हैं।

आगे पढ़िये

- जिब्रान, के, "वर्क इज़ लव मेड विज़िबल", *गांधी मार्ग*, 1985, पृ. 563 – 576
- फूको, मिशेल, *डिसिप्लिन एंड पनिशः द बर्थ ऑफ द प्रिज़न*, (अनुवादः ए. शेरिडन), न्यू यॉर्कः विंटेज बुक्स, 1995
- इलिच, इवान, *डीस्कूलिंग सोसाइटी*, लंडन व न्यू यॉर्कः मैरियन बॉयर्स पब्लिशर्स लि, 2006
- मदान, ए, "मैक्स वेबर्स क्रिटीक ऑफ द ब्युरोक्रेटाइज़ेशन ऑफ एजुकेशन", *कंटेंपररी एजुकेशन डॉयलॉग*, 2014, 11(1), पृ. 95 - 113

6

आधुनिकता, पहचान और शिक्षा

भारतीय शिक्षा के धरातल पर बड़े नाटकीय बदलाव आ रहे हैं। अलग-अलग ताकतें आज शिक्षा को विपरीत दिशाओं में खींच रही हैं। हम एक अभूतपूर्व रूप से कठिन दौर से गुज़र रहे हैं जहाँ परस्पर विरोधी वैचारिक और सांस्कृतिक रुझानों में खुल कर टकराव हो रहे हैं। विभिन्न आर्थिक और राजनीतिक हितों का टकराव भी शिक्षा में साफ दिख रहा है। समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र ने हमारे समाज के इस पेचीदा ताने-बाने के कुछ महत्वपूर्ण हिस्सों को रेखांकित करने का प्रयास किया है और शिक्षा जगत के सामने आ रही कुछ चुनौतियों व समस्याओं को भी सामने रखा है।

हमारी शिक्षा व्यवस्था का वर्णन कई ढंग से किया जा सकता है। हम जिस तरह इसका वर्णन करेंगे उसी से यह भी तय होगा कि हम इसको किस तरह समझने वाले हैं। कुछ लोग एक शिक्षक के अनुभवों पर बात कर सकते हैं, कुछ लोग एक विद्यार्थी होने के दैनिक हर्ष और हताशाओं पर प्रकाश डाल सकते हैं। कुछ लोग सार्थक और प्रासंगिक पाठ्यपुस्तकें लिखने की जद्दोजहद पर बात कर सकते हैं।

इस किताब में मैंने कुछ ऐसी प्रक्रियाओं पर चर्चा की है जिनको संरचनात्मक और व्यापक प्रक्रियाओं की श्रेणी में रखा जा सकता है। मैंने जटिल समाजों के उदय, बाज़ारीकरण और संस्थानों के तार्किकीकरण की प्रक्रियाओं पर बात की और कहा कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों

में हमारे बुनियादी सम्बन्धों व पहचानों को यही प्रक्रियाएँ निर्धारित कर रही हैं। ये प्रक्रियाएँ संरचनात्मक रूप से इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे उन बहुत सारी स्थितियों को बुनियादी सन्दर्भ या आकार प्रदान करती हैं जिनमें हम लोग शिक्षक, विद्यार्थी, पाठ्यचर्या निर्माणकर्ता या प्रशासक के रूप में खुद को घिरा पाते हैं। जब हम लोगों को इस पर बहस करते देखते हैं कि बच्चों को भौतिकी पढ़ाया जाए या वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी जाए, जब बच्चे समय-सारणी की दैनिक निरसता से बेचैन होते हैं, जब हम इस बात से चिन्तित होते हैं कि साहित्य के अध्ययन से जीवन में कोई अर्थ पैदा होता है या नहीं तो हमारी चिन्ताओं की जड़ में यही प्रक्रियाएँ होती हैं। बेशक, केवल यही प्रक्रियाएँ नहीं हैं जो हमारे जीवन को आकार प्रदान करती हैं मगर ये

आधुनिकता के तीन खम्भे

उन महत्वपूर्ण और ज़्यादा अच्छी तरह समझी जा सकी प्रक्रियाओं में से हैं जिन पर समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में थोड़ा-बहुत काम हो चुका है।

जटिल समाजों के उदय, बाज़ारीकरण और संस्थाओं के तार्किकीकरण को प्रायः आधुनिकता की विशिष्टता बताया जाता है। समाज वैज्ञानिक जब आधुनिकता शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका आशय केवल नए और फैशनेबल कपड़ों या आधुनिक उपकरणों से नहीं होता। आधुनिकता से उनका आशय दुनिया भर में आए कुछ खास बदलावों से होता है जो दो-तीन सदी पहले शुरू हुए थे। बुनियादी तौर पर यह बदलाव खुद को और अपनी दुनिया को समझने के लिए तर्क के अधिकाधिक प्रयोग की दिशा में रहा है। यहाँ तक कि अपने विकल्पों को भी तर्क की सख्त कसौटी पर कसने की ओर चलन बढ़ा है। समाज विज्ञान का उदय आधुनिकतावादी चिन्तन का एक उदाहरण है जिसके माध्यम से, मिसाल के तौर पर, हम गरीबी के सामाजिक और आर्थिक कारणों की पड़ताल करते हुए उसको समझने का प्रयास करते हैं। यह तरीका गरीबी को भगवान की इच्छा या किसी और ढंग से समझने की कोशिश से बिलकुल अलग है। इस तरह तर्क के अधिकाधिक प्रयोग से यह सवाल पूछने की सम्भावना पैदा हुई कि सबसे बेहतर नीति के बारे में एक तर्कसंगत बहस की जगह राजा-महाराजाओं की अतार्किक और मनमानी इच्छाओं से शासित होने की हमें क्या आवश्यकता है? इस तरह के सवालों से दुनिया भर में लोकतांत्रिक आदर्शों को बल मिला। इस बदलाव के फलस्वरूप स्कूल और उसमें दी जाने वाली शिक्षा की हमारी कल्पना पर भी असर पड़ा।

बेशक यह भी सच है कि हर कोई नहीं मानता कि आधुनिकता और तार्किकता अच्छी बातें हैं। कुछ लोग तो उन्हें सिरे से खारिज करते हैं। और कुछ हैं जो कहते हैं कि आधुनिकता और तर्क ठीक हैं मगर उन को संस्कृति द्वारा सन्तुलित करने की ज़रूरत है। इन अलग-अलग मतों का साया स्कूलों में जो कुछ होता है उस पर भी पड़ता है।

परम्पराओं पर पुनर्विचार

पश्चिमी यूरोप में आधुनिकता की आहट औद्योगिक पूँजीवाद के उदय के साथ अठारहवीं शताब्दी के आसपास सुनाई पड़ने लगी थी। उसी समय सड़कों से लेकर सेनाओं तक तमाम चीज़ों के नियोजन और पुनर्निर्धारण के लिए तकनीकी तार्किकता का इस्तेमाल भी बढ़ने लगा था। भारत में अंग्रेज़ों के पहले मुगल और दूसरी सेनाओं में भी बढ़ती नौकरशाही व्यवस्था के साथ आधुनिकता की आहट सुनाई पड़ने लगी थी। जब इस पूरे इलाके पर अंग्रेज़ों का कब्जा होने लगा तो आधुनिकता को और बल मिला और वह यहाँ एक अलग और अनूठे ढंग से विकसित होने लगी। उदाहरण के लिए, गांधी जी ने रेलवे और उद्योग जैसे अंग्रेज़ी शासन के बाहरी प्रतीकों को खारिज तो किया मगर साथ ही यह भी कहा कि हमें अपनी परम्पराओं पर भी पुनर्विचार करना होगा ताकि उन्हें अपने दौर के लिए उपयुक्त बनाया जा सके। सोचने का यह एक स्पष्ट आधुनिकतावादी ढंग था। यह तर्कशीलता के विकास का हिस्सा था जो हर चीज़ को नए हालात के लिए उपयुक्त बनाने के लिए उसे नए साँचे में ढालने की मांग कर रहा था। बंगाली पुनर्जागरण, आर्य समाज और सिंह सभा जैसे सुधार आन्दोलन तथा

इसी तरह के बहुत सारे दूसरे बौद्धिक एवं सामाजिक आन्दोलन पिछली दो सदियों के दौरान भारतीयों द्वारा आधुनिकता का अपना एक संस्करण खोजने और रचने की कोशिशों के उदाहरण हैं। उन्होंने कई पारम्परिक मान्यताओं को यह कह कर नकारा कि यह आज के दौर के अनुकूल नहीं हैं और साथ ही, दर्शन, संस्कृति और शिक्षा के नए अर्थ भी ढूँढे।

भारत के बहुत सारे शैक्षिक मुद्दे और प्रश्न असल में इस बात से जुड़ते हैं कि आधुनिकता का अर्थ क्या है और इसे अमल में कैसे लाया जाए। पूँजीवाद, नौकरशाहीकरण का विस्तार व तार्किकीकरण तथा बढ़ती सामाजिक जटिलता आधुनिकता के मुख्य स्तम्भ हैं। अगर इन्हें समझ लिया जाए तो यह जानने में काफी मदद मिलेगी कि आधुनिकता कैसे काम करती है और कौन-सी नई चुनौतियाँ सामने रखती है। इनकी विवेचनात्मक समझदारी से हमें यह देखने में मदद मिलेगी कि आधुनिकता के प्रति हमें क्या रवैया अपनाना चाहिए और अपने दैनिक जीवन के धरातल पर उसकी व्याख्या कैसे करनी चाहिए।

आधुनिकता के आलोचक

आधुनिकता के आलोचकों की भी कमी नहीं है। बाज़ारीकरण, तार्किकीकरण और जटिल समाजों में जीने की चुनौतियों को लेकर एक से एक गरमागरम बहसें रही हैं। मसलन, कई लोग सवाल उठाते हैं कि स्कूलों में वर्दी क्यों होनी चाहिए, सभी को एक ही ढंग के कपड़े पहनाने का क्या औचित्य है? एक तरफ इसके फायदे हैं क्योंकि वर्दी तय हो जाने पर माँ-बाप को हर रोज़ एक साफ-सुथरी नई पोशाक की चिन्ता से आज़ादी मिल जाती है और इससे बच्चों और माँ-बाप के बीच होने वाली यह होड़ भी खत्म हो जाती है कि किसके पास ज़्यादा अच्छे कपड़े हैं। मगर, जाने अनजाने में यह नियम जीवन को कहीं ज़्यादा उबाऊ और रसहीन भी बना देता है। यह केवल नौकरशाही का ही नहीं बल्कि समूची आधुनिकता की कुछ बुनियादी दुविधाओं का एक उदाहरण है।

बहुत सारे लोगों के मुताबिक, आधुनिकता की एक अहम समस्या यह है कि आधुनिकता स्थानीय विविधताओं को नज़रअंदाज़ कर देती है और सब पर एक ही जवाब थोपने का प्रयास करती है। स्कूली वर्दी के उबाऊ होने के साथ-साथ एक समस्या यह भी है कि यह एक खास संस्कृति का ही प्रतिनिधित्व करती है और उसे सब पर थोप देती है। जैसे, सभी के लिए स्कर्ट और कमीज़ का नियम तय कर देना। आलोचकों के मुताबिक, आधुनिकता एक सार्वभौमिक चरित्र का दिखावा तो करती है मगर वास्तव में यह सार्वभौमिकतावादी नहीं होती। सार्वभौमिकता का इसका दिखावा असल में शलवार कमीज़, सारोंग, घाघरा और साड़ी आदि दूसरे विकल्पों का हिंसक दमन होता है। जब भी हम संस्कृति और पहचान के धरातल पर आधुनिकता को लागू करते हैं, जिसमें नौकरशाहीकरण और पूँजीवाद भी शामिल हैं, तो हर जगह इसी तरह की समस्याएँ सिर उठाने लगती हैं। मगर अब कुछ लोग आधुनिकता के खिलाफ संघर्ष भी छेड़ने लगे हैं। ये आलोचक कहते हैं कि आज का यह समय आधुनिकता की अस्वीकृति का, उसको खारिज करने का युग है। उनके मुताबिक, ईरान से लेकर अमरीका तक तमाम देशों के लोग फिर से पहचान और धर्म की ओर लौटने लगे हैं। उनके हिसाब से, आधुनिकता द्वारा दिए गए एकल स्तरों से आगे बढ़ कर अब हम नए ऐतिहासिक दौर में आ गए हैं जिसे उत्तर-आधुनिकता यानी आधुनिकता से अगली अवस्था कहा जा सकता है। आधुनिकता के शिखर काल में विज्ञान की सर्वोच्चता इस अपेक्षा पर आधारित थी कि वह हर चीज़ का उत्तर दे सकता है। मगर, हमारे उथल-पुथल भरे दौर को देखकर ऐसा लगने लगा है कि किसी भी सवाल का कोई एक जवाब हो ही नहीं सकता। हमारे देश में असंख्य संस्कृतियाँ हैं और हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि वे हमेशा हमारे साथ रहने वाली हैं। कोई तथाकथित सार्वभौमिकतावादी संस्कृति इनकी जगह नहीं ले सकती। इस तरह के आलोचकों की राय में नौकरशाहीकरण और तर्कशीलता को खारिज करना अनिवार्य है। इसकी बजाय वे पहचान और संस्कृति को बहाल करने, मेक्डॉनल्ड के बर्गर की बजाय समोसे का मज़ा लेने पर ज़ोर देते हैं। उनके हिसाब से

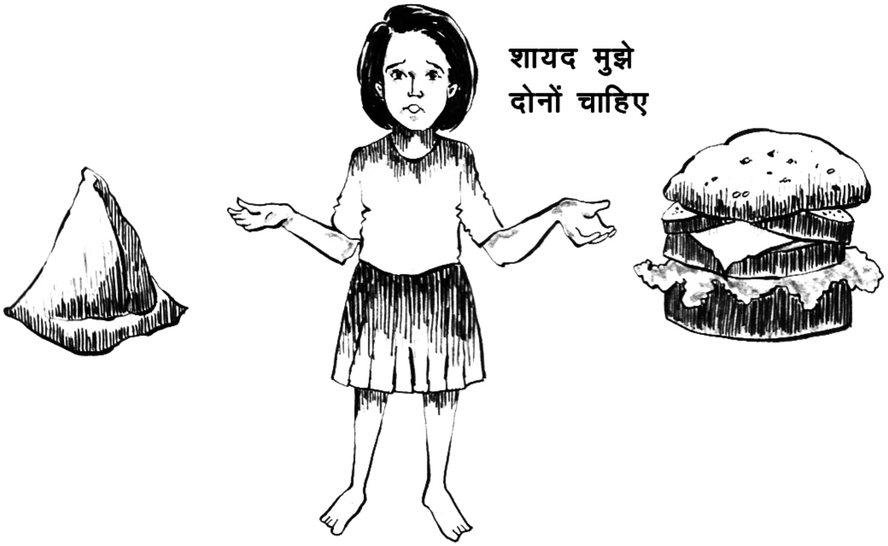

स्कूलों को साझा संस्कृतियों के बारे में बात नहीं करनी चाहिए बल्कि उन्हें विशेष समुदायों या धर्मों या राष्ट्रों की संस्कृति के गुणगान करने में गर्व महसूस करना चाहिए।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में आधुनिकतावादी सिद्धांत का बड़ा बोलबाला था। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित था कि अंततः सारे देश पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका के विकसित देशों जैसे बन जाएंगे। कहा जा रहा था कि जब हर देश एक निर्वाचित संसद की स्थापना कर लेगा, वहाँ अमरीका और सोवियत संघ जैसी नौकरशाही संस्कृतियों के अनुसार चलने वाले उद्योग होंगे, वहाँ अमरीका और सोवियत संघ जैसे विश्वविद्यालय होंगे तो हर देश आधुनिकीकरण की उच्च अवस्था में पहुँच जाएगा। आधुनिकीकरण का यह सिद्धांत आज बिखरा हुआ दिखाई पड़ता है। मिसाल के तौर पर, जापान अमरीका के मुकाबले बिलकुल अलग ढंग की औद्योगिक प्रबंधकीय संस्कृति के सहारे एक बेहद ताकतवर आर्थिक शक्ति बन गया है। सिंगापुर और सऊदी अरब ज़रा से भी लोकतंत्र के बिना दुनिया के सबसे सम्पन्न राष्ट्र बन गए हैं। कहाँ तो यह दावा किया जा रहा था कि सार्वभौमिकता आधुनिकीकरण का एक निर्णायक पहलू होगा और कहाँ

दुनिया के बहुत सारे भागों में इसको खुलेआम चुनौती दी जा रही है और अलग-अलग धर्मों व संस्कृतियों के बीच जगह-जगह टकराव हो रहा है। अब तो यह भी कहा जा रहा है कि आगे बढ़ने के लिए हर इलाके को अपना अनूठा और खास रास्ता ढूँढना होगा।

तो क्या आधुनिकता विदा हो चुकी?

कुछ लोग पहचान के उदय और सार्वभौमिकतावाद के सामने मौजूद चुनौतियों के बल पर यह घोषणा कर रहे हैं कि हम एक उत्तर-आधुनिक युग में पहुँच गए हैं जहाँ आधुनिकता का अब कोई मतलब नहीं रह गया है। उनका कहना है कि आधुनिकता के अपने लाभ हैं मगर अब हम उस अवस्था के आगे आ चुके हैं। इसके विपरीत, कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि आधुनिकता यों भी कभी कोई बहुत महान विचार नहीं था और हमारे प्राचीन तौर-तरीके इससे कहीं ज़्यादा बेहतर थे। उनका ऐलान है कि जितना जल्दी हम अपने पुरखों के तौर-तरीकों पर लौट जाएंगे हम सबके लिए उतना ही बेहतर होगा। अगर हम पहले समूह को उत्तर-आधुनिकतावादी कहते हैं तो दूसरे समूह को आधुनिकता-विरोधी कहा जा सकता है। इनके अलावा कुछ ऐसे भी हैं जो पहचान व संस्कृति तथा उनकी तरफ से आधुनिकता पर खड़े किए गए सवालों को समझने के लिए एक ज़्यादा एहतियात भरा रवैया अपनाते हैं। उनका कहना है कि आधुनिकता विदा नहीं हुई है और अभी भी एक सामाजिक रुझान के रूप में हमारे बीच मौजूद है। इन लोगों का कहना है कि हमारा दौर उत्तर-आधुनिकता का नहीं बल्कि आधुनिकता की ही परिपक्व अवस्था का है। यह ऐसा दौर है जब हम आधुनिकता को खारिज करने की बजाय इसको सुधारने और इसमें संशोधन का प्रयास कर रहे हैं। उनका कहना है कि जिन मूलभूत प्रक्रियाओं ने आधुनिकता को आकार दिया वे अभी भी हमारे साथ हैं। हम अभी भी जटिल समाजों में मिलकर साथ रहने की चुनौतियों से जूझ रहे हैं। बाज़ारीकरण और पूँजीवाद अभी भी दुनिया में परिवर्तन की सबसे निर्णायक प्रक्रियाएँ हैं। नौकरशाहीकरण अभी भी संस्थाओं की कार्यशैली का निर्णायक आधार है। अगर कोई बदलाव आया भी है

तो वह यही है कि इन प्रक्रियाओं की ताकत में कोई कमी आने की बजाय वह और भी बढ़ गई है, । इस तरह के लोगों का कहना है कि आज के दौर में वैश्विक पूँजीवाद कहीं ज़्यादा विकसित हो चुका है और इसने दुनिया के तकरीबन सारे मुल्कों को अपने जाल में समेट लिया है। सभी जगह की नौकरशाही व्यवस्थाएँ और भी ज़्यादा परस्पर गुँथती जा रही हैं। जब मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, उसी समय बहुत सारे लोग आधार कार्ड बनवाने और उसको अपने मोबाइल नंबरों, बैंक खातों और पैन कार्ड से जोड़ने के लिए धक्के खा रहे हैं। स्कूल नौकरशाही व्यवस्था के साँचे में पहले से कहीं ज़्यादा कस कर ढलते जा रहे हैं। शिक्षकों के ऊपर रूटीन दफ्तरी कामकाज का बोझ पहले की तुलना में कम होने की बजाय बढ़ता ही जा रहा है और साथ ही उन पर निगरानी का साया भी और लम्बा होता जा रहा है। पानी, भाषा, धर्म और न जाने किन-किन चीज़ों के लिए भारत के अलग-अलग भाग एक-दूसरे के खिलाफ खड़े न हों, इसके लिए स्कूली पाठ्यचर्या

को बार-बार कठघरे में खड़ा कर दिया जा रहा है। ऐसा लगता है कि आधुनिकता से निपटने की चुनौती कमज़ोर नहीं पड़ी है बल्कि और ज़्यादा घनी हो गई है।

आज तो बाज़ार और सरकारी नौकरशाही तंत्र भी पहचानों को निर्धारित करने लगे हैं। लोगों को कन्नड़ या मराठी परिभाषित करने में सरकारें निर्णायक भूमिका अदा करती हैं। तरह-तरह के विज्ञापन और उपभोक्ता वस्तुएँ गणेश चतुर्थी और ईद की उत्तेजना को और बढ़ा देती हैं। कुछ सदियों पहले के मुकाबले आज पहचानों ने एक बिलकुल अलग शक्ल अख्तियार कर ली है। बार-बार यही विवाद होते रहते हैं कि स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाए या अंग्रेज़ी, या तमिल या कन्नड़। इन अलग-अलग भाषाओं के सवाल पर पैदा होने वाला यह जोश आंशिक रूप से इसलिए है क्योंकि ये भाषाएँ हमारी पहचानों से भी जुड़ी हैं, चाहे ये पहचानें व्यक्तिगत हों या क्षेत्रीय या राजनैतिक। जब मुझे पंजाबी बोलने की क्षमता से वंचित कर दिया जाता है या मुझे यह हिदायत दी जाती है कि कक्षा की हिन्दी में कथित उर्दू शब्दों का प्रयोग करना बन्द कर दें तो हो सकता है मुझे निजी तौर पर बहुत चोट पहुँचे। ये पहचानें दो सदियों के संघर्षों, नौकरशाही प्रक्रियाओं और बाज़ारों के एक-दूसरे में गुँथते जाने से तय हुई हैं। साथ ही, ये इस आशय के विचारों से भी निर्धारित हुई हैं कि राज्य (या सरकार) को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। मिसाल के तौर पर, दो सदी पहले शायद किसी ने भी उस ज़बान को पढ़ाने के बारे में नहीं सोचा होगा जिसे हम आज अपने स्कूलों में 'हिन्दी' के नाम से जानते हैं। उस वक्त मालवी, बागड़ी, भोजपुरी वगैरह बहुत सारी स्थानीय भाषाएँ मौजूद थीं। नौकरशाहीकरण और तार्किकीकरण के एक बहुत जबर्दस्त अभियान के तहत इन सारी भाषाओं का मानकीकरण करके उनको हिन्दी के स्कूली संस्करण में ढाल दिया गया जो खड़ी बोली के सबसे नज़दीक पड़ती है। हिन्दी का हिन्दुस्तानी संस्करण, जिसमें अलग-अलग संस्कृतियों की भाषाओं का मिश्रण रहा है, उसको धीरे-धीरे हाशिए पर धकेल कर अब स्कूलों में हिन्दी का एक संस्कृतनिष्ठ

संस्करण पढ़ाया जाने लगा है। अगर आप स्कूली नौकरशाही से प्रमाणपत्र पाना चाहते हैं और रोज़गार बाज़ार में दाखिल होना चाहते हैं तो बेहतर होगा कि आप इसी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में महारत हासिल करें। हिन्दी पहचान का गठन असल में अभी भी आधुनिकता की ताकतों को अभिव्यक्त करता है। उसे इन ताकतों के सन्दर्भ से काटकर अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता। इसी तरह, जिसे इस्लाम कहा जाता है, वह अलग-अलग इलाकों में बहुत अलग दिखाई देता है। इस्लामिक पहचान का मानकीकरण पूँजीवाद का एकीकरण करने वाली शक्तियों और अनुष्ठानों व प्रतीकों के नौकरशाहीकरण के ज़रिए सम्भव हुआ है। अगर पूँजीवाद और औद्योगिकरण को तेल की ज़रूरत नहीं होती तो न तो अमरीका अफगानिस्तान और इराक में जाता और न ही ओसामा बिन लादेन आतंकी नेता बनता। एक और उदाहरण लें तो राष्ट्रीय पहचान और उसके साझा प्रतीक, भाषाएँ व संस्कृतियाँ भी राज्य की नौकरशाही संरचना के माध्यम से ही विद्यमान रहते हैं। आज के दौर में खुद पहचान भी आधुनिकता की छाप लेकर चलती है। मेरे खयाल में आधुनिकता और उसकी प्रक्रियाओं पर लगातार ध्यान देते रहना बेहतर होगा। वैश्विक पूँजीवाद दिन-प्रतिदिन हमारी दुनिया को बदलता जा रहा है और इसके लिए वह जो तमाम तरीके अपनाता है, उन सबको सही नहीं माना जा सकता। दुनिया को जिस तरह एक सूत्र में पिरोया जा रहा है, उसको देखते हुए हमें इस बारे में फिर से सोचने की ज़रूरत है कि हम अपनी इन्सानियत को कैसे ज़िन्दा रखें। बाज़ारीकरण, तार्किकीकरण और तुलनात्मक रूप से ज़्यादा जटिल समाजों का उदय अभी भी जारी है और इस परिघटना से हमारी शिक्षा व्यवस्था और उसकी चुनौतियाँ भी तय हो रही हैं।

आधुनिकता पर प्रतिक्रियाएँ और हमारी शिक्षा

दुनिया के बहुत सारे लोगों ने ऐसे तरीके ढूँढने की कोशिश की है जो आधुनिकता को खारिज नहीं करते मगर इसकी समस्याओं को दूर करने का प्रयास ज़रूर करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में सबसे दिलचस्प प्रयोग पूँजीवाद को सिरे से खारिज करने की बजाय पूँजीवाद,

नौकरशाहीकरण और सार्वभौमिकतावाद से पैदा होने वाली समस्याओं को सम्बोधित करने वाले प्रयोग रहे हैं। पूँजीवाद ने लोगों के लिए दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचना मुमकिन बना दिया है। इस प्रक्रिया के समानान्तर वे बहुत सारे दमनकारी सामाजिक सम्बन्धों से भी मुक्त होते गए हैं। मिसाल के तौर पर, मध्य वर्ग की महिलाएँ इस बात को देख सकती हैं कि शिक्षा उन्हें नई नौकरियाँ और खुद को जानने के ऐसे तरीके प्रदान करती है जो गृहिणी के रूप में उपलब्ध नहीं थे। मगर समस्या यह है कि बाज़ारीकरण के चलते प्रतिस्पर्धा की संस्कृति भी पैदा हुई है जो शिक्षा के उद्देश्य को केवल दूसरों से आगे निकलने का उद्यम बना देती है; वह सार्थक श्रम के ज़रिए खुद को साकार करने का विकल्प प्रदान नहीं करती। कुछ शिक्षाविद इस पर सवाल भी उठाने लगे हैं। वे कहते हैं कि सहकारी श्रम व्यवस्था शायद ज़्यादा उत्पादनशील हो सकती है। लोग तब ज़्यादा बेहतर ढंग से सीखते और काम करते हैं जब वे एक-दूसरे की सहायता करते हैं। इस तरह के शिक्षाविदों के मुताबिक रचनात्मक सवाल यह है कि ऐसी पाठ्यचर्या और कक्षाएँ कैसे रची जाएँ जो बच्चों को प्रतिस्पर्धा की बजाय परस्पर सहयोग के माध्यम से आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करें। गौर करने की बात है कि यह अठारहवीं शताब्दी की सामन्तवादी व्यवस्था और संस्कृति की ओर लौटने का आह्वान नहीं है जहाँ लोग एक बार फिर वफादारी और बंधुआगिरी के बंधनों के तहत स्थानीय प्रभुओं के लिए काम करने लगेंगे, जिनके पास विकल्पों की तलाश करने या सवाल उठाने की क्षमता नहीं होगी। बेशक, अतीत से हम बहुत कुछ मूल्यवान चीज़ें सीख सकते हैं मगर सहकारी किस्म की श्रम व्यवस्था की तलाश उत्पादन की पूँजीवाद से पहले की पद्धतियों की तरफ लौटने की बात नहीं है। इसकी बजाय, यह पूँजीवाद की समस्याओं के पार जाने की हसरत है।

कक्षाओं की बहुत सारी चुनौतियाँ दरअसल नौकरशाहीकरण की चुनौतियाँ हैं। अनिवार्य रूप से छह कोर्स पढ़ाने के लिए बाध्य शिक्षक फैक्टरी के उस मज़दूर की तरह है जो काम के बोझ से दबा है और उसे एक साथ कई मशीनों को सम्भालना है। बड़ी संख्या में बच्चों

आधुनिकता कहाँ गई?

को पढ़ाने की चाह की कीमत हम रूटीनीकरण और रचनात्मकता के दमन के रूप में चुका रहे हैं। करोड़ों बच्चों को एक साथ एक ही पाठ्यक्रम पढ़ाना तब सम्भव हो पाता है जब एक मज़बूत व्यवस्था हो और शिक्षा में एकरूपता हो। फलस्वरूप, निजी सम्बन्धों और श्रम के सांस्कृतिक या सौन्दर्यात्मक सुख की कीमत पर एक तकनीकी और व्यावहारिक तर्कशीलता को बढ़ावा दिया है। इसका नतीजा यह है कि शिक्षकों में बच्चों की स्थिति को समझने का उत्साह कमज़ोर पड़ता जा रहा है। हर ओर नौकरशाहीकरण तथा तकनीकी तर्कशीलता के उदय से अब हमारे सामने यह चुनौती आ गई है कि बहुत सारे बच्चों

नौकरशाही के साए में दबा शिक्षक बनाम स्वायत्त शिक्षक

को सम्भालने के साथ-साथ कक्षा में एक जीवन्त मानवीय अनुभव कैसे रचा जाए। हमारे शिक्षक और स्कूल अपने काम और रूटीन के बारे में पुनर्विचार के माध्यम से इन समस्याओं से निपटने की कोशिश कर रहे हैं। इसका एक मतलब यह हो सकता है कि शिक्षक इस बात पर ज़ोर दें कि वे अधिकतम कितने बच्चों को पढ़ा सकते हैं और क्रमशः अपने अफसरों पर इस बात के लिए दबाव डालें कि अगर उन्हें इससे ज़्यादा बच्चों वाली कक्षाएँ दी जाती हैं तो उनकी पढ़ाई का स्तर गिरने लगेगा। नौकरशाहीकरण की समस्याओं से निपटने का एक तरीका यह है कि शिक्षकों को अपने काम की परिस्थितियों को तय करने के लिए और ज़्यादा ताकत व गुंजाइश दी जाए। शिक्षकों के ज्ञान आधार को सींचने और अपने काम के साथ बौद्धिक जुड़ाव के माध्यम से उनकी प्रतिबद्धता को बढ़ाना भी नौकरशाहीकरण की समस्याओं का एक जवाब हो सकता है। तकनीक और निगरानी के माध्यम से शिक्षकों पर

सख्त नियंत्रण रखने की बजाय यह शायद ज़्यादा कारगर तरीका हो। यह गुरुकुल की उस व्यवस्था में लौटने का रास्ता नहीं है जहाँ अकेले गुरुजी मुट्ठी भर विद्यार्थियों के साथ बैठे पठन-पाठन कर रहे होते थे। वास्तव में यह कक्षा के भीतर एक ज़्यादा मानवीय माहौल बनाने और तकनीकी तर्कशीलता के एक उचित सन्तुलन के माध्यम से नौकरशाही की दुविधाओं से परे जाने की चेष्टा भर है।

व्यावहारिकता की बजाय संस्कृति-केन्द्रित जीवन और पहचान की इन्सानी चाह के लिए आधुनिकता द्वारा पेश की गई चुनौतियों के चलते कई बार आधुनिकता को नकार दिया गया है। कुछ लोगों का तर्क है कि आधुनिकता पहचान को विकृत करती है, उसे दूसरों पर प्रभुत्व की एक हिंसक, आक्रामक चाह में तब्दील कर देती है। मसलन, वैश्वीकरण दुनिया पर प्रभुत्व की चाहत पर आधारित हिन्दुत्व के फैलाव को और सींच रहा है। वैश्वीकरण इस्लामिक पहचान के एक ऐसे बोध को भी सींच रहा है जो दुनिया के विशाल भागों पर राजनीतिक नियंत्रण के लिए खलीफाओं के ज़माने को बहाल करना चाहता है। मगर हमारे सामने ऐसे लोग भी हैं जो ये दलील देते हैं कि आधुनिकता के लिए ऐसा करना अनिवार्य नहीं है। आधुनिकता हमें ज़्यादा नई, ज़्यादा विस्तृत पहचानें रचने का अवसर भी मुहैया कराती है। उदाहरण के लिए, टैगोर की यही आशा थी जब उन्होंने यह चाहत व्यक्त की थी कि हमारा राष्ट्रवाद देश के पड़ोसियों से नफरत करने की बजाय विभिन्न संस्कृतियों के खिलने पर आधारित हो। यह राष्ट्रवाद की एक ऐसी कल्पना थी जो अपनी ऊर्जा और जीवन्तता के लिए पड़ोसियों के प्रति डर या नफरत पर आधारित नहीं थी। बहुत सारे लोगों का मानना है कि आधुनिकता ने पहचान के एक ज़्यादा संकुचित, ज़्यादा आक्रामक बोध को जन्म दिया है जो तमाम तरह के मतभेदों और विविधताओं को कुचलकर इस बात पर ज़ोर देता है कि एक राष्ट्र में केवल एक ही संस्कृति हो सकती है। मगर साथ ही हमारे पास ऐसे शिक्षाशास्त्री भी हैं जो विश्वास रखते हैं कि आज के युग में स्कूल का काम असल में नाना संस्कृतियों के बीच एक परस्पर मिश्रण के बोध को सींचना है। उनके मुताबिक, स्कूल की ज़िम्मेदारी है कि वह बच्चों में यह एहसास

पैदा करे कि वे सिर्फ एक संस्कृति या एक समुदाय के सदस्य नहीं हैं बल्कि बहुत सारे समुदायों और संस्कृतियों से भी सम्बद्ध हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह आधुनिकता का नकार नहीं है बल्कि उसके परे जाने, उसे और विस्तार देने, उसे और सींचने की कोशिश है।

एंथनी गिडन्स जैसे बहुत सारे विद्वानों ने इस रवैए को एक रिफ्लेक्सिव या आत्मचेतन आधुनिकता की ओर बढ़ने की चाहत कहा है। उनके मुताबिक, यह विश्वास अब तक जो कुछ हुआ है उसकी समीक्षा करने और उसको बेहतर बनाने की एक चेष्टा है। आधुनिकता के फायदों को सम्भाले बिना उसको पूरा का पूरा खारिज कर देना खुद को वापस अन्धकार युग में धकेल देने जैसा होगा। शायद ज़्यादा बेहतर यह होगा कि आधुनिकता को बहुत सारे धीमे सुधारों की एक गहन प्रक्रिया से गुज़ारा जाए। इसके लिए हमें एक ऐसी समीक्षात्मक प्रक्रिया से गुज़रना होगा जो यह सवाल खड़ा करे कि हम दरअसल क्या करना चाहते हैं – क्या हम एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनाना चाहते हैं जो हमारी बुनियादी मानवीयता को अभिव्यक्ति दे या फिर ऐसी व्यवस्था जो सिर्फ ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफे और नियंत्रण की चाहत को बढ़ावा दे? शायद हम अभी भी यह उम्मीद कर सकते हैं कि मनुष्यों के पास मुड़कर यह देखने की क्षमता है कि वे क्या कर रहे हैं और कैसे उसको सुधार सकते हैं।

आगे पढ़िए

- बेक, यू, *रिस्क सोसाइटीः टुवड्र्स अ न्यू मॉडर्निटी*, लंदन, सेज, 1992
- गिडेंस, ए, *कॉन्सिक्वेंसेज़ ऑफ मॉडर्निटी*, केंब्रिज, पोलिटी प्रेस, 1990
- टैगोर, रविंद्रनाथ, *नेशनलिज़्म*, लंदन, मैक्मिलन एंड कंपनी, 1921

आधुनिकता पर प्रतिक्रियाएँ

लेखक परिचय

पंजाब विश्वविद्यालय से मानवशास्त्र में एमएससी, और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से एमफिल व पीएचडी कर चुके अमन मदान आजकल अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में शिक्षा का समाजशास्त्र, सामाजिक सिद्धांत और सामाजिक अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं। इससे पहले अमन आईआईटी कानपुर, होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन, टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ में अध्यापन कर चुके हैं। साथ ही, उन्होंने कुछ साल तक एकलव्य के साथ भी काम किया है। अमन *कन्टेम्परेरी एजुकेशन डायलॉग* के संपादक मंडल के सदस्य भी हैं। अमन की दिलचस्पी फिलहाल सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा, सामाजिक सिद्धांत और संगठनों के समाजशास्त्र में है।